श्रीअरविन्द कर्मधारा

मई-जून , 2020 वर्ष 50 अंक-3

श्रीअरविन्द आश्रम-दिल्ली शाखा श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली

श्री अरविन्द कर्मधारा

श्री अरविन्द आश्रम
दिल्ली शाखा का मुखपत्र

मई-जून 2020

(अंक-3)

संस्थापक

श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फकीर'

सम्पादन : अपर्णा रॉय

विशेष परामर्श समिति
कु0 तारा जौहर, विजया भारती,

ऑनलाइन पब्लिकेशन ऑफ
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा
(नि:शुल्क उपलब्ध)

कृपया सब्सक्राइब करें-
saakarmdhara@rediffmail.com

कार्यालय
श्री अरविन्द आश्रम, दिल्ली-शाखा
श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016
दूरभाषः 26567863, 26524810

आश्रम वैबसाइट
(www.sriaurobindoashram.net)

अतिमानव

अतिमानव कौन है?
वह जो जड़-तत्व पर ही
केन्द्रित, सब से पृथक इस
मनोमय मानव-सत्ता से
ऊपर उठ सकता हो और
भागवत-शक्ति, भागवतप्रेम
और आनन्द तथा
भागवत-ज्ञान को प्राप्त
करके विराट् दिव्य पुरुष
बन सकता हो।
यदि तू इस सीमाबद्ध
मानुषी अहं को बनाये
रखे और फिर अपने को
अतिमानव समझे तो
अपने ही मिथ्याभिमान
का मूर्ख दास है, अपनी ही
व्यक्तिगत शक्ति के हाथों
का खिलौना है और अपनी
भूल-भ्रांतियो का यन्त्र है।

श्रीअरविन्द

विषय-सूची

क्र.सं.	रचना	रचनाकार	पृष्ठ
1	प्रार्थना और ध्यान	श्रीमाँ	4
2	संपादकीय	अपर्णा रॉय	5
3	श्रीअरविंद के योग की साधना	नवजात	8
4	कौन	अनुवाद: विमला गुप्ता	12
5	अल्जीरिया में श्रीमाँ	नीरदवरण	13
6	सच्चे प्रेम को जानने का एक संकेत	रवीन्द्र	16
7	चैतन्य सूर्य (कविता)	सुमित्रानन्दन पन्त	17
8	श्रीमाँ की शक्ति की ओर उद्घाटन	अनुवाद: चन्द्रदीप	20
9	साधनामय जीवन	डा. इन्द्रसेन	24
10	तीन गांठे	संकलन	28
11	श्रीमाँ का वक्तव्य	श्रीमती विमला गुप्ता	30
12	ज्ञान-भजन	विद्यावती कोकिल	32
13	जापान के विषय में श्रीमाँ	नीरदवरण	34
14	प्राकट्य (Revelation)	श्रीमती विमला गुप्ता	38
15	आश्रम-गतिविधियाँ		43

प्रार्थना और ध्यान

प्रभु, हम तेरे समक्ष हैं जिससे कि तेरा संकल्प चरितार्थ हो सके। हमारे विचार से सारी बाधाओं को, सारे सन्देहों को, सारी दुर्बलताओं एवं सीमाओं को, उस सबको जो हमारे ज्ञान पर पर्दा डालता और हमारी समझ को धूमिल करता है, दूर कर।

मैं तेरी चेतना की प्यासी हूँ, तेरे साथ सर्वांग एकत्व की प्यासी हूँ, अकर्म में एवं शारीरिक क्रियाओं से दूर उड़ान में नहीं अपितु तेरे संकल्प की एक पूर्ण, एक अखंड एवं चरम संसिद्धि में।

तेरी परम ज्योति का चमत्कार इस अंधेरे में से फूट निकलना चाहिए जिसने पृथ्वी को आवृत्त कर लिया है।

-श्रीमाँ

संपादकीय

पूर्णयोग के पथ का अनुसरण करते समय हमें श्रीमाँ द्वारा निर्देशित सर्वांगीण शिक्षा (मन-प्राण-शरीर की शिक्षा) का पालन करना आवश्यक है। इस कार्य में हम सतत् रूप से सजग रह कर भी अक्सर उस समय असहाय होने लगते हैं जब पीड़ा और बिपदा रोग के रूप में शरीर पर आक्रमण करती है, ऐसे में लगता है कि हमारी सहायता सिवाय ईश्वर के कौन कर सकता है ? हमें याद रखना होगा कि यदि हम ईश्वर को पुकारते हैं तो उस पुकार में ईश्वर के प्रति सच्ची आस्था और विश्वास का होना जरूरी है। एक कहानी याद आती है --

एक आठ साल का बच्चा अपनी मुट्ठी में एक रूपए का सिक्का लेकर एक दुकान पर गया। उसने दुकानदार से कहा, क्या आपकी दुकान में ईश्वर मिलेंगे?

दुकानदार ने यह बात सुनकर सिक्का नीचे फेंक दिया और बच्चे को भगा दिया।

बच्चे ने दूसरी दुकान में जाकर एक रूपए का सिक्का दिखाया और चुपचाप खड़ा रहा।

--ए लड़के, इस एक रूपए में तुम क्या चाहते हो?

--मझे ईश्वर चाहिए। आपकी दुकान में है?

दूसरे दुकानदार ने भी उसे भगा दिया।

लेकिन, उस बालक ने हार नहीं मानी। एक दुकान से दूसरी दुकान, दूसरी से तीसरी, ऐसा करते-करते वह करीब चालीस दुकानों के चक्कर काटने के बाद एक बूढ़े दुकानदार के पास पहुँचा। उस बूढ़े दुकानदार ने उसकी बात सुनी और पूछा,

--तुम ईश्वर को क्यों खरीदना चाहते हो? क्या करोगे ईश्वर लेकर?

पहली बार किसी के मुँह से यह प्रश्न सुनकर बच्चे के चेहरे पर आशा की किरण लहराई। लगता है इस दुकान पर ईश्वर जरूर मिलेंगे!

बच्चे ने बड़े करुण स्वर में उत्तर दिया,

--इस दुनिया में माँ के अलावा मेरा और कोई नहीं है। मेरी माँ दिन भर काम करके मेरे लिए खाना लाती है। मेरी माँ अब अस्पताल में है। अगर मेरी माँ मर गई तो मुझे कौन खिलाएगा? डाक्टर ने कहा है कि अब सिर्फ ईश्वर ही तुम्हारी माँ को बचा सकते हैं। क्या आपकी दुकान में ईश्वर मिलेंगे?

--हां, मिलेंगे! कितने पैसे हैं तुम्हारे पास?

--सिर्फ एक रूपए।

--ओह ! कोई दिक्कत नहीं है। इस एक रूपए में तुम्हें ईश्वर की कृपा मिल सकती है।

दुकानदार ने बच्चे के हाथ से एक रूपया ले लिया, कुछ सोचा, फिर उसने बच्चे को फिल्टर से एक गिलास पानी भरकर दिया और कहा, इसमें ईश्वर की कृपा है, इसे पिलाने से तुम्हारी माँ जरूर ठीक हो

जाएगी। बच्चा पानी लेकर खुशी-खुशी चला गया।

अगले दिन कुछ मेडिकल स्पेश्लिस्ट उस अस्पताल में गए। बच्चे की माँ की जाँच की गई,उसका ऑपरेशन हुआ और बहुत जल्द ही वह स्वस्थ हो उठी।

डिस्चार्ज के कागज़ पर अस्पताल का बिल देखकर उस महिला के होश उड़ गए, मगर डॉक्टर ने उन्हें अश्वासन देकर कहा, "चिन्ता की कोई बात नहीं है। एक वृद्ध सज्जन ने आपके सारे बिल चुका दिए हैं। साथ में एक चिठ्ठी भी दी है"।

महिला चिट्ठी खोलकर पढ़ने लगी,उसमें लिखा था -

"मुझे धन्यवाद देने की कोई आवश्यकता नहीं है। आपको तो स्वयं ईश्वर ने ही बचाया है..., मैं तो सिर्फ एक ज़रिया हूँ। यदि आप धन्यवाद देना ही चाहती हैं तो अपने मासूम बच्चे को दीजिए जो सिर्फ एक रूपए में ईश्वर को ढूंढ़ने का संकल्प लिए चल पड़ा। उसके सरल मन में यह दृढ़ विश्वास था कि एकमात्र ईश्वर ही आपको बचा सकते हैं। विश्वास इसी को कहते हैं। ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए करोड़ों रूपए दान करने की जरूरत नहीं होती, यदि मन में अटूट विश्वास हो तो वे एक रूपए में भी मिल सकते हैं।"

साथियों! आज हम जिस महामारी के दौर से गुजर रहे हैं, हमारे अंदर भी बीमारी को जीतने का संकल्प होना चाहिए। श्रीमाँ कहती हैं,

"अपने अन्दर जीतने का संकल्प जगाओ। केवल मन में ही संकल्प नहीं, बल्कि शरीर के कोषाणुओं तक में संकल्प। इसके बिना तुम कुछ नहीं कर सकते; तुम सैकड़ों दवाइयाँ ले सकते हो लेकिन वे तुम्हें नीरोग न कर सकेंगी जब तक तुम्हारे अन्दर शारीरिक बीमारी को जीतने का संकल्प न हो।

मैं उस विरोधी शक्ति को नष्ट कर सकती हूँ जिसने तुम पर अधिकार कर लिया है। मैं इस क्रिया को हजारों बार दोहरा सकती हूँ। लेकिन हर बार जब कोई रिक्तता पैदा होगी तो वह इन बहुत-सी शक्तियों में से किसी न किसी से पुन: भर जाएगी जो अन्दर घुसने की फिराक में रहती हैं। इसीलिए मैं कहती हूँ;जीतने के संकल्प को जगाओ।"

श्रीमाँ हमें इस सत्य से भी अवगत कराती हैं कि सहायता के लिए कृपा हमेशा मौजूद रहती है,लेकिन हमारी ओर से कुछ प्रयास भी आवश्यक है और कहना न होगा कि प्रयास में जरूरी है विश्वास,बिलकुल उस बच्चे की तरह सरल और दृढ़ विश्वास !

श्रीमाँ का दावा था कि अगर शरीर नीरोग होने का निश्चय कर ले तो वह निरोग हो जाता है। उनके कथनानुसार -

"हम जिस उत्साह के साथ मन से मिथ्यात्व का त्याग करते हैं, उसी उत्साह के साथ शरीर द्वारा बीमारी का

त्याग होना चाहिए।"

भौतिक कष्ट यानि शारीरिक यंत्रणा के समय भी हम ऐसा कर सकें, इसके लिए श्रीमाँ चेतना के उत्कर्ष पर बल देती हैं, वे कहती हैं–'यदि चेतना को कष्ट से दूर हटा लिया जाए और तुम भगवान की ओर खुले रहो अर्थात यदि तुम भगवान (जो शुद्ध परम-सत् है) के साथ सम्पर्क बनाये रख सको तो सभी शारीरिक रोगों को दूर किया जा सकता है।'

आज पूरे विश्व में आई इस संकटपूर्ण स्थिति का सामना करने में श्रीमाँ के वचन संबल बनकर हमारा मार्ग-प्रशस्त करते हैं।

आइए, इस महामारी से बचने के लिए हम सभी श्रीमाँ के वचनों की डोर पकड़े, आस्थापूर्ण मन से ईश्वर को पुकारें, उनसे प्रार्थना करें, सत्यनिष्ठ समर्पण के साथ उनकी सहायता मांगे... !

इसी प्रेरणा के साथ पत्रिका का यह अंक आपके सामने प्रस्तुत है,स्मरण कराना चाहती हूँ कि हमें आपकी रचनाओं (कविता, कहानी, लेख...) की विनम्र प्रतीक्षा है।

आप सभी सर्वांगीण (मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक) रूप से स्वस्थ रहें।

श्रीअरविन्द आश्रम-दिल्ली शाखा
श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली110016

"उन सबको जो आश्रम की दिल्ली शाखा में कार्य करते हैं व शिक्षा प्राप्त करते हैं, मैं अपना आशीर्वाद भेजती हूँ। प्रत्येक को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्यानुसार अच्छे-से-अच्छा कार्य करे व परिणाम की चिन्ता भगवान पर छोड दें।

श्रीमाँ

श्रीअरविन्द के योग की साधना

नवजात जी

श्री नवजात जी की गिनती श्रीअरविन्द आश्रम (पाण्डिचेरी) के गंभीर साधकों में की जाती है, उनकी वार्ताओं से वहाँ के लोगों को श्रीमाँ और श्रीअरविन्द की शिक्षा का लाभप्रद परिचय पाने के अवसर मिलते रहे। यहाँ हम श्रीअरविन्द की योग साधना पर उनकी एक वार्ता प्रस्तुत कर रहे हैं। इस आशा में कि पाठकों के लिए यह उपयोगी साबित होगी--

आज की सभा का विषय है- श्रीअरविन्द के योग की साधना!

मैं इस पर तीन भागों में बोलने की कोशिश करूँगा-धारणा, साधना, यानी कार्यान्वयन और परिणाम। मैं अभी कार्यान्वयन पर ज़्यादा ज़ोर दूँगा। यदि तुम श्रीअरविन्द के योग की साधना करो तो क्या परिणाम होगा?

जहाँ तक मैं जानता हूँ, श्रीअरविन्द की दृष्टि, अभी तक मानवजाति के इतिहास में जो स्वप्न लिये गए हैं उनमें सबसे ज़्यादा पूर्ण और सर्वांगीण है। वह अपनी धारणा में सबसे अधिक पूर्ण, अपने कार्यान्वयन में सबसे अधिक सर्वांगीण और परिणाम में सबसे बढ़-चढ़ कर है। श्रीअरविन्द एक ही विस्तार में भूत,भविष्य और वर्तमान, मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य जीवन, व्यक्तिगत और सामुदायिक और सारी मानवजाति के जीवन को ले लेते हैं और सभी समस्याओं का समाधान भी उपस्थित करते हैं। श्रीअरविन्द की कृतियाँ पढ़ कर तुम लोग आश्चर्यचकित रह जाओगे। लोगों ने दस-बीस बातें सोची होंगी, परन्तु श्रीअरविन्द ने हज़ारों प्रश्न रखे हैं। वे मनुष्य की मौलिक अभीप्सा-भगवान् के लिए अभीप्सा, अमरता के लिए अभीप्सा, प्रकाश और स्वाधीनता के लिए अभीप्सा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् के लिए अभीप्सा का वर्णन करते हैं और उन सबको चरितार्थ करने के लिए मार्ग बतलाते हैं। आज मनुष्य के सामने उपस्थित समस्याओं की यह सर्वकुज्जी हैं, वे चाहे मनोवैज्ञानिक हों, अहंकार, लोभ, घृणा और ईर्ष्या की हों या आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक समस्याएँ हों।

लेकिन अगर उन्होंने एक हज़ार प्रश्न रखे हैं तो भी वह उत्तर तो एक ही देते हैं। जब हम उनके चरम उत्तर पर आते हैं तो स्वभावतः हम अनुभव करते हैं कि वही सब समस्याओं का उत्तर है, वही हमारी सभी समस्याओं का समाधान है, सभी अभीप्साओं की पूरिपूर्ति है। हम अनुभव करते हैं कि कोई समस्या है ही

नहीं क्योंकि कोई दो समाधान नहीं हैं। अगर दो सम्भावनाएँ हों तो तुम अपने-आपसे पूछ सकते हो कि मैं इसे अपनाऊँ या उसे, पर जब एक ही समाधान है तो मार्ग सरल हो जाता है और तुम आसानी से आगे बढ़ सकते हो। हम इसी को समझने की कोशिश करेंगे।

पहले श्रीअरविंद कहते हैं कि जगत् विकास कर रहा है-जड़ पदार्थ से वनस्पति, वनस्पति से पशु और पशु से मनुष्य। लेकिन मनुष्य अन्तिम चरण नहीं है, वह क्रम-विकास में बीच का क़दम है। क्रम-विकास इससे आगे मानव से अतिमानव तक जाएगा। अतिमानसिक परिवर्तन मानव शरीर का भी परिवर्तन ले आएगा। मैंने उपनिषद् का प्रसिद्ध मन्त्र पढ़ा था-असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय। इसमें विचार यह है कि मर्त्य चेतना से जीव अमृत-चेतना में जाए। सबसे अच्छी चीज़ जो व्यक्ति अपने-आपसे कह सकता है वह यह कि अब मैंने अपने अन्दर अमर दिव्य चेतना को अनुभव कर लिया है और मैं उसमें रह रहा हूँ, अतः, शारीरिक मृत्यु का कोई महत्व नहीं। लेकिन कभी किसी ने यह नहीं सोचा कि शारीरिक अमरता भी सम्भव हो सकती है।

श्रीअरविन्द के योग में शारीरिक अमरता की बात आती है। हमने इसके बारे में कथाओं में पढ़ा है परन्तु यह कभी सोचा भी नहीं कि वास्तव में मनुष्य की शारीरिक अमरता सम्भव हो सकती है। शारीरिक अमरता के बारे में श्रीअरविन्द का विचार इस शरीर से नहीं है जो हाड़-चाम और मांस का बना हुआ है परन्तु उस शरीर से है जो ज्योति से बना है, ज्योति का ऐसा शरीर जो रोग मुक्त होगा और वृद्धावस्था से मुक्त होगा, जिसके अन्दर सभी उच्चतर क्षमताएँ विकसित होंगी, जिसमें संचार के साधारण उपायों की ज़रूरत न होगी, भोजन की ज़रूरत न होगी और यह क्रम-विकास का आख़िरी चरण नहीं बल्कि अगला चरण है। श्रीअरविन्द की दृष्टि सीमित नहीं है। यदि मानवजाति पृथ्वी पर विकसित होकर, यहाँ पर भगवान् को पूरी तरह अभिव्यक्त कर सके तो वह उच्चतम भौतिक परिपूर्णता तक भी पहुँच सकेगी। श्रीअरविन्द के योग द्वारा ही, मनुष्य जिस उच्चतम परिपूर्णता का स्वप्न देख सकता है, वह चरितार्थ हो सकती है।

श्रीअरविन्द के योग का व्यक्तिगत और सामुदायिक रूप से लक्ष्य है–भौतिक रूपान्तर। तुम लोगों में से जो यह सोचते हैं कि तुम वृद्ध हो चुके हो और तुम उस उम्र को पार कर चुके हो जहाँ विकास कर सको, कि तुम समय से पिछड़ गये हो और अब तुम अगले जन्म में ही विकास करने की कोशिश कर सकते हो, मैं एक बात कहना चाहूँगा जो माताजी ने मुझसे कही थी। उन्होंने कहा था कि अन्तिम श्वास तक भगवान् को पाने का अवसर है,आदमी को कभी शरीर छोड़ने और प्रयास बन्द कर देने के बारे में न सोचना चाहिए। इसे एक क्षण के लिए भी कम करने की बात नहीं सोचनी चाहिए।

दूसरी बात जो उन्होंने कही वह यह थी कि जीवन को लम्बा किया जा सकता है। फिर उन्होंने कहा,"मेरे बालक, तुम पुराण-कथाओं से सम्मोहित हो। (मुझे हिन्दू-पुराण-कथाओं में बहुत रस था) तुम सोचते हो कि चीज़ें और तरह से नहीं हो सकतीं लेकिन मैं कहती हूँ कि चीज़ें और तरह से भी हो सकती हैं"। यह रहा आशा का एक बड़ा सन्देश कि हर चीज़ और तरह से भी हो सकती है। और तरह से कैसे? यह हम तब देखेंगे जब हम वास्तविक योगाभ्यास की बात पर आएँगे, परन्तु पहली चीज़ जो मैं तुमको बतलाना चाहूँगा वह यह है कि श्रीअरविन्द का योग केवल नैतिक या धर्मनिष्ठ जीवन की बात नहीं कहता, केवल इतना ही नहीं जिसमें तुम भगवान् का ध्यान करो,भागवत जीवन में निवास करो और एक दिन चल बसो। श्रीअरविन्द का लक्ष्य है-मानव जीवन को पृथ्वी पर दिव्य जीवन में बदलना, उसका एक रूप है–मानव से अतिमानव में बदलना।

श्रीअरविन्द के योग का एक और रूप है- आध्यात्मिक काल का आगमन, जो आगे चल कर उसे देव-समाज की ओर ले जाएगा। यह बड़ी मज़ेदार चीज है, व्यक्तिगत रूप से हम विकसित हो रहे हैं, सामाजिक रूप से भी हम विकास कर रहे हैं। श्रीअरविन्द वर्तमान समाज को आर्थिक समाज कहते हैं, बल्कि वे उसे 'आर्थिक बर्बरता' कहते हैं। हर एक दूसरे के बल पर पैसा कमाना चाहता है और हर चीज़ पर पैसे का शासन है। आपको घर की ज़रूरत है, आपको चिकित्सा की ज़रूरत है, अपने बालकों के लिए शिक्षा की ज़रूरत है, आपको बुढ़ापे की व्यवस्था की ज़रूरत है तो इस तरह आपका सारा जीवन, आपकी सारी ऊर्जा पैसा कमाने की परम आवश्यकता पर ख़र्च होती है। हमारे लिए मानव जीवन का यही मूल्य है। श्रीअरविन्द का कहना है कि यदि विकास जीवन का लक्ष्य है, यदि मानव जीवन का लक्ष्य है पृथ्वी पर एक ऐसे नये शरीर के द्वारा भगवान् को अभिव्यक्त करना जो अभिव्यक्ति का ज़्यादा अच्छा यन्त्र हो तो एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था विकसित होनी चाहिए जो उसके विकास में सहायक हो। तब किसी को जीविका के लिए कमाई न करनी होगी, हर एक को खुली छूट होगी कि वह अपना मनपसन्द काम चुन सके और उसे भगवान् को अभिव्यक्त करने का क्षेत्र बना सके। यह कैसे हो सकता है ? समाज उसके भरण-पोषण, मनोरंजन, खेल-कूद, चित्रकारी, संगीत की व्यवस्था करेगा-उसके लिए हर चीज़ निशुल्क होगी और बदले में वह समाज को अपनी सेवा निशुल्क देगा। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति वह स्थान प्राप्त करेगा जिसके लिए वह योग्यतम होगा और अपनी सच्ची आवश्यकता के अनुसार काम करेगा। जैसा कि मैंने कहा, सच्ची आवश्यकता में संगीत, चित्रकला भी आवश्यकताएँ हो सकती हैं। जिसमें अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार व्यक्ति योग करेगा। यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह उस काम को चुनने के लिए पूरी तरह से आज़ाद हो जिसके लिए उसमें अधिक-से-अधिक क्षमता हो। यह नई सामाजिक-आर्थिक-व्यवस्था समाजवाद, साम्यवाद, गणतंत्र आदि उन सभी व्यवस्थाओं से ज़्यादा अच्छी होगी जिन्हें आज तक मानव के सामने प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ मुझे एक घटना याद आती है। जब ओरोवील की योजना शुरू हुई थी तो हमारे मुख्य स्थपति ने उसमें भाग लेने के लिए एक कम्यूनिस्ट स्थपति को निमन्त्रण दिया। वह रूसी मूल का एक प्रसिद्ध स्थपित था, लेकिन वह इसमें भाग नहीं लेना चाहता था क्योंकि जैसा उसने कहा, उसे आध्यात्मिकता और भगवान् पर विश्वास न था। हमारे मुख्य स्थपति ने उसे श्रीअरविन्द की कुछ पुस्तकें भेंट कीं। उन्हें पढ़ने के बाद उसने कहा, 'मुझे पता न था कि भारतीय आध्यात्मिकता यह है। यह तो वह उच्चतम आदर्श है जो कम्यूनिज़म का लक्ष्य है' और उसने सरकारी तौर पर अपने दल से ओरोवील के लिए काम करने की स्वीकृति ले ली। केवल इतना ही नहीं, तुम लोगों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि रूस की सरकार ने श्रीअरविन्द के 'योग-समन्वय' को रूसी भाषा में अनुदित करने और विधिवत् छापने तथा वितरित करने की आश्रम से स्वीकृति भी ले ली है। एक कम्यूनिस्ट देश के लिए यह बहुत बड़ी बात है, बहुत बड़ा क़दम है।

अग्निशिखा
फरवरी 2019

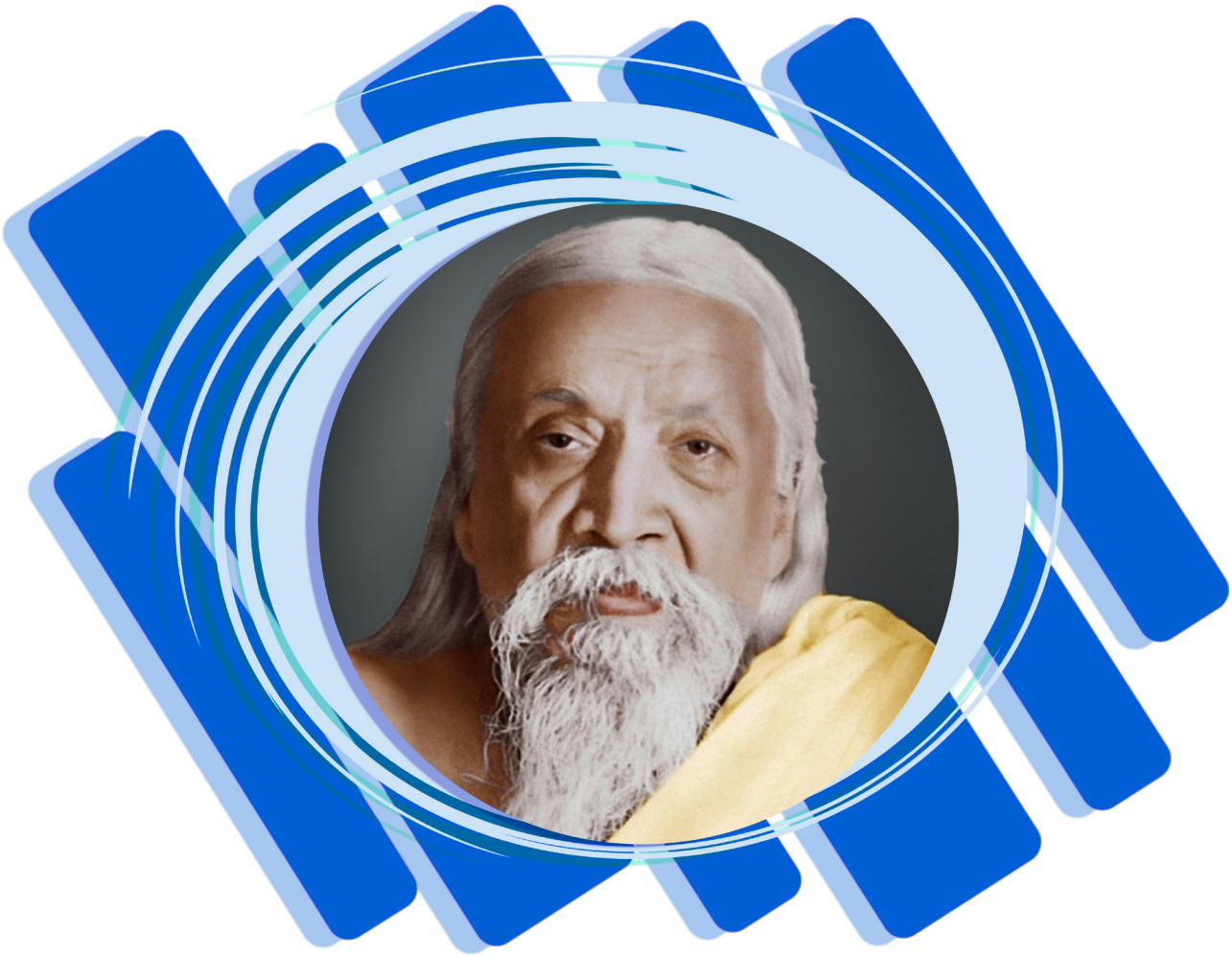

धीरता और सहनशीलता जितनी अधिक होगी, भागवत शक्ति और भागवत प्रेम उतने ही अधिक हमारे साथ होंगे और विजय का आनन्द भी उतना ही अधिक होगा।

कौन

अनुवाद: विमला गुप्ता

आकाश की नीलिमा में, वन की हरियाली में,
किस हाथ ने भरे हैं ये चमकीले रंग?
जब हवाएँ थी सोई हुई व्योम के गर्भ में,
किसने उन्हें जगाया और बहने का दिया आदेश ?
वह खोया हुआ है हृदय में. प्रकृति की कन्दरा में.
विचारों को सृजता हुआ वह पाया जाता है मन में
वह गुंथा हुआ फूलों के प्रतिरूप और प्रस्फुटन में,
और फंसा हुआ है सितारों के प्रभामय जाल में।
पुरुष के पौरुष में, नारी के सौंदर्य में,
बालक की किलकारी और बालिका की लालिमा में
वह हाथ जिसने बृहस्पति को घुमाकर फेंक दिया अन्तरिक्ष में,
खर्च कर देता है अपनी चतुराई एक घुँघराल को सँवारने में,
ये हैं उसके कार्य और उसके आवरण एवं प्रतिबिम्ब
लेकिन वह स्वयं कहाँ है,जाना जाता है किस नाम से?
वह ब्रह्मा है या विष्णु? पुरूष है अथवा नारी?
देही है या अन्देही ? दुकेला है या अकेला?
हमें प्रेम है एक बालक से जो साँवला और तेजस्वी है,
एक नारी है हमारी अराध्या,अनावृत्त एवं भयंकर।
हमने देखा है उसे पहाड़ों की बर्फ पर ध्यानमग्न,
और जीवन क्षेत्र के केन्द्र बिन्दु में अनवरत कर्मरत।

-महानिशा का तीर्थयात्री

अल्जीरिया में श्रीमाँ

नीरदवरण

श्रीमाँ ने लिखा है- त्लेमसेन में रहते समय दोपहर की गर्मी में मैं जैतून वृक्ष की छाया मैं बैठकर ध्यान करती थी। एक दिन गहरे ध्यान की अवस्था में अचानक मुझे कैसी अस्वस्ति का अनुभव होने लगा। आँखें खोलकर देखा, बुहत बड़ा एक गेहुँवन साँप तीन-चार हाथ की दूरी पर फन फैलाए खड़ा झूम रहा था और फों-फों शब्द कर रहा था। उन साँपों को वहाँ 'नागा' कहा जाता है। वे भयंकर विषैले होते हैं,उनके काटने से उसी क्षण मौत। पहले समझ में नहीं आया कि उसको इतना क्रोध क्यों है। बाद में लगा शायद उसके बिल का मुँह रोक कर मैं बैठी हुई हूँ इसलिए। मेरे पीछे पेड़ के अन्दर एक बिल था भी, पर अब मैं क्या करूँ? थोड़ा भी अगर हिलूँ तो वह काटने दैड़ेगा। हिली नहीं मैं। डरी भी नहीं। स्थिर दृष्टि से केवल उसकी ओर देखती रही और अपनी इच्छाशक्ति का यथासाध्य प्रयोग किया। कुछ देर बाद उसका फों-फों करना बन्द हुआ,लगा वह कुछ शान्त हुआ है। तब मैंने अपनी दृष्टि और इच्छाशक्ति समान रूप से उसी के ऊपर निबद्ध रखते हुए बहुत धीरे से अपने दोनों पैरों को हटाया। अन्त में वह यमदूत साँप अचानक फन को नीचे कर क्षिप्रगति से मुड़ा और सामने के तालाब में कूदकर अदृश्य हो गया। घटना को सुनकर तेयों बोले- 'साँप इस बिल में रहता है, यह हम सब लोग जानते हैं। स्नान करके अपने बिल लौट रहा था, तुमने उसको बाधा दी, इसलिए उसका आक्रोश भड़का। उसे थोड़ा दूध दोगी तो वह यूँ ही तुम्हारा मित्र बन जाएगा'। उस दिन से मेरा भय बिल्कुल चला गया। पहले साँप देखते ही कैसी एक दुर्दमनीय वितृष्णा होती थी। अब उस से पूर्ण रूप से मुक्ति पा गई हूँ।

अब मेंढक की कहानी सुनो;।

"उनके घर में एक पियानो था।... मैं प्रायः ही बजाती थी। एक दिन बहुत देर तक पूरी एक सिम्फनी बजाए जा रही थी। जैसे ही रूकी, अचानक अजीब एक शब्द सुनाई दिया, 'क्राँ, क्राँ' शब्द करके कौन आवाज कर रहा है। कहाँ से यह शब्द आ रहा है? चारों ओर देखा, देखा सामने एक अदभुत अतिथि था दरवाजे पर,एक बड़ा मेढक! बड़ी-बड़ी दोनों आँखों से मुझे देख रहा था। मैंने भी देखा, तब फिर 'क्राँ' शब्द किया।

उसका अर्थ समझ में आया, कि बजाए जाओ। इसलिए थोड़ी देर और बजाया। तन्मय होकर वह सुनने लगा। बाद में मैं जब भी बजाती थी,वह जाने कहाँ से,निश्चित रूप से आ जाता था और आँखे फाड़कर सुनता था। मैं ज्यों ही रूकती तो वह आवाज दे उठता था,'क्वाँ'।"

अब माँ की गुह्यविद्या की एक-दो कहानियाँ सुनी जाएँ।

माँ कहती हैं-त्लेमसेन से जब मैं जहाज से लौट रही थी तब यूरोप-भ्रमण के विचार से तेयों मेरे साथ हो लिए। एक दिन समुद्र में तुमुल तूफान उठा। जहाज इस प्रकार हिलने लगा कि सब को विपत्ति की आशंका होने लगी। भय से जहाज पर सवार यात्री त्रस्त थे। कप्तान ने बताया कि विपत्ति की सम्भावना आ गई है। तेयों मेरी ओर देखकर बोले,'जाओ,जाकर तूफान को रोको'। कप्तान सुनकर अवाक् हो गए, कुछ भी नहीं समझ पाए; मैं इशारा समझ गई। केबिन में जाकर लम्बी सो गई और शरीर से निकलकर सूक्ष्म देह में स्वच्छन्द होकर समुद्र के बीच उतर गई। वहाँ देखा, अनगिनत अशरीरी सत्ताएँ उन्मत्त की भाँति कूद-फाँद रही हैं और जलराशि को भयंकर रूप से आन्दोलित कर रही हैं। उनके निकट जाकर मैंने अत्यन्त मीठे स्वर में उनसे कहा,'बच्चों, तुम लोग यह नटखटपना बन्द करो। जहाज पर सवार इन बेचारे लोगों पर अत्याचार कर तुम्हें क्या मिलेगा? तुम लोगों से मैं अनुरोध करती हूँ कि शान्त हो जाओ। इन्हें बचाओ।' आधा घंटा उनसे अनुनय-विनय करने के बाद वे रुके। मैं भी अपने शरीर में लौट आई। डेक पर आकर देखा, सभी लोग मिल कर नाना प्रकार की बातें कर रहे हैं"।

शरीर से बाहर होने की बात सुनकर अनेक लोग अवश्य विस्मित होंगे। इस गुप्तविज्ञान के सिद्धान्त से यह स्थूल शरीर ही एकमात्र शरीर नहीं है; इस स्थूल शरीर के अन्दर अनेक सूक्ष्म शरीर या कोष हैं। इन सब सूक्ष्म कोषों का अवलम्बन लेकर स्थूल शरीर से निकल कर विभिन्न जगहों पर जाया जाता है। माँ ने यह विद्या मदाम तेयों के निकट प्राप्त की थी। उनके आदेश के अनुसार माँ सो जाती थीं और मदाम की देख-रेख में सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म जगत् के विभिन्न स्तरों पर पहुँच जाती थीं।

अपनी सूक्ष्म देह में एक बार माँ पेरिस चली आईं और अपने मित्रों के सामने उपस्थित हो गईं। उपस्थिति के निदर्शन स्वरूप कुछ बातें कागज पर लिखकर वहाँ देकर वापस लौट आईं । उनका वह लिखा हुआ बहुत दिनों तक सुरक्षित था।

कहाँ अल्जीरिया और कहाँ पेरिस! माँ के सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ संयोग एक अति सूक्ष्म और

क्षीण धागे के माध्यम से था। एक बार यह सूत्र कट जाने की नौबत आ गई थी। यदि सूत्र कट जाता तो उसी क्षण माँ की मृत्यु हो जाती। दुष्ट अशरीरी अपशक्तियों की वह कारसाजी थी। किसी प्रकार बचकर माँ शीघ्र अल्जीरिया लौट आईं। आश्रम के साधकों को माँ ने सतर्क कर दिया है ताकि वे अपरिपक्व अवस्था में शरीर से बाहर जाने की चेष्टा न करें। मेरे बगल के कमरे में एक युवक साधक सोई अवस्था में इस प्रकार शरीर से बाहर हो जाता था। मुझे सावधान कर माँ ने कहा था,'खबरदार, कोई आवाज नहीं करना अन्यथा लड़के पर भयानक विपत्ति आएगी।'

माँ रोज रात में इस प्रकार बाहर होकर साधक- साधिकाओं की निद्रावस्था में उनके आन्तरिक जीवन के पहलू अथवा प्रयोजन से उनकी ठीक व्यवस्था कर वापस आती थीं। माँ को बचपन में ही अनेक महापुरूष सूक्ष्म देह में दर्शन देते थे और उनकी साधना में सहायता करते थे।

-श्रीमाँ की जीवनगाथा

> हमें यह समझना होगा कि ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नहीं होता,और ईश्वर के द्वारा जो भी होता है,वो अच्छा हो या बुरा,सुखद हो या दुखदः,सिर्फ और सिर्फ कृपा होती है।

सच्चे प्रेम को जानने का एक संकेत

रवीन्द्र

जब चैत्य प्रेम करता है तो वह भागवत प्रेम से प्रेम करता है। जब तुम प्रेम करते हो तो ऐसे भागवत प्रेम से प्रेम करते हो जो तुम्हारे अहंकार द्वारा घट कर विकृत हो जाता है, फिर भी अपने सार तत्त्व में भागवत प्रेम ही रहता है।

भाषा की सुविधा के लिए तुम इसका प्रेम और उसका प्रेम कहते हो, लेकिन वह एक ही प्रेम होता है जो विभिन्न प्रणालियों से प्रकट होता है।

मैंने तुम्हें उस प्रेम को पाने के लिए संकेत दे दिया है जिसे तुम वर्षों से खोज रहे हो लेकिन यह मानसिक संकेत नहीं है और मैं तुमसे क्या कहना चाहती हूँ उसे तुम तभी जान सकते हो जब तुम्हारा मन नीरव हो जाये

प्रेम एक ही है, भागवत प्रेम; और उस प्रेम के बिना सृष्टि न होगी। सबका अस्तित्व केवल उसी प्रेम के कारण है और जब हम अपने "निजी प्रेम" की खोज करना चाहते हैं जिसका कोई अस्तित्व नहीं है तो हम प्रेम का अनुभव नहीं करते, एकमात्र प्रेम भागवत प्रेम है जो समस्त सत्ता में व्याप्त होता है।

सच्चे प्रेम को आदान-प्रदान की जरूरत नहीं होती; इसमें आदान-प्रदान हो भी नहीं सकता क्योंकि प्रेम एक ही है, ऐसा प्रेम जिसका लक्ष्य प्रेम करने के सिवाय और कुछ नहीं है। विभाजन के जगत् में आदान-प्रदान की जरूरत होती है क्योंकि आदमी प्रेम की बहुलता के भ्रम में जीता है लेकिन प्रेम केवल एक ही है और यह एकमात्र प्रेम ही अपने आपको उत्तर देता है।

प्रेम कोई व्यक्तिगत चीज नहीं है, यह एक वैश्व भागवत भाव है...।

पुस्तक- प्रेम से

चैतन्य सूर्य

-सुमित्रानन्दन पन्त

समय आ गया, समय आ गया,
गाओ, मन, प्रातः युग फेरी,
समय आ गया,धुंध छा गया,
बजने को जीवन रण-भेरी !
समय आ गया, समय आ गया,
भीतर से बदलो अब मानव,-
भीतर से बदलो भू-दानव,-
मृत्यु अंक में जन्म लो नया,
फिर पुराण हो अभिनव !
बदल रहे बाहर के जग में
भीतर से बदलो युग संभव !
प्रगति कालविद् की चिर चेरी !
फिर से सोचोः क्या जग,क्या जीवन,जड़-चेतन,
क्या रस, क्या इच्छा का कारण ?
क्या रे प्रेय ? सत्य, शिव,सुंदर ?
सुख-दुख, राग-विराग, मृत्यु-ज्वर ?
सोचो फिर क्या आत्मा, क्या मन ?
क्या ईश्वर ? आनन्द तत्व-घन ?
मंथन करो पुनः चित् सागर
नव प्रकाश डालो रत्नों पर !
युग-युग की छाया से मुक्त
करो उर दर्पण,
मुक्त राख से करो अग्नि-कण,-
सोचो क्या हो जीवन-दर्शन !

विद्युत पंखोंवाले हे
अणु बल के पर्वत !
बाह्य रूप जीवन का गढ़कर
सामाजिक ढाँचे में मढ़कर
कहाँ खोजते तुम संरक्षण ?-
अंध, आत्महन् !
कहाँ शांति ?- आकाश कुसुमवत् !
भू मंगल,जन अभिमत !
भीतर देखो,भीतर निर्भय,
(बाहर केवल अणु दशंन भय !)
भीतर सुलग रहा सूर्यानल
शत ज्वालागिरियों का दुर्जय
जीवन मूल्यों का होता क्षय,
अंतः संचय होने को लय,-
भीतर युद्ध क्षेत्र निःसंशय,
अपने पर पाओ जय !
खड़ा आज जंगल नाश छोर पर,
धूमिल रे भावी के अक्षर !-
मानस मृत कंकालों का घर,
मानव शव, भू जीवन खँडहर !
अहे बहिर्गामी युग के मन,
'भीतर से बदलो' का यह रण !
घोर बंबडर घुमड़ रहे अब
भू के उदर सिंधु में भीषण !
स्तब्ध क्षितिज, आँधी आने को,
महा रात्रि, हत प्रभ तारागण,
रक्त नेत्र घिरते पावक घन,
भू विकास का संकट का क्षण !
विश्व प्रकृति पर क्या विजयी तुम ?
झूठ ! न होते क्या अंतः स्थित ?
बाह्य प्रकृतिजित आत्म पराजित
आत्मजयी ही विश्वजयी नित !

बाहर भीतर का विरोध तम
नव प्रकाश में लीन अनामय,
वह अतिक्रम कर चुका द्वन्द्व सब,
व्यर्थ खोजती बुद्धि समन्वय !
ओ स्त्रीकामी, यती, विरागी,
भीतर से बदलो जीवन, मन,
भोजन भजन भवन जन वन प्रिय,
नव चेतन को करो समर्पण !
यह अभिनव चैतन्य स्वर्ण प्रभ,
भावी अरूणोदय गर्भित नभ,-
बहिरंतर इसका प्रतीक हो,
यह भू अमृत, सुरों को दुर्लभ !
समय आ गया, समय आ गया
व्यर्थ न भटको बाहर
जड़ मरू में सौरभ मृग !
निगल न जाए तुम्हें
नाश की निशा अँधेरी,
मृत्यु की नींद घनेरी ;-
भीतर देखो, स्वागत करो
सूर्य का अभिनव
ओ युग संभव,
समय हो गया, करो न देरी

पूर्वप्रकाशित-कर्मधारा 1985

श्रीमाँ की शक्ति की ओर उद्घाटन

अनुवादक- चन्द्रदीप

श्रीमाँ की शक्ति की ओर अपने को खुला रखो, पर सब प्रकार की शक्तियों पर विश्वास न करो। जब तुम आगे बढ़ोगे तब, अगर तुम सीधे रास्ते को पकड़े रहो तो, तुम एक ऐसे समय में जा पहुँचोगे जब चैत्य पुरूष अधिक प्रमुखता के साथ क्रियाशील हो जाएगा और ऊपर से आने वाली दिव्य ज्योति अधिक शुद्धता तथा प्रबलता के साथ अधिकार जमा लेगी जिससे कि मानसिक तथा प्राणिक रचनाओं के सच्ची अनुभूति के साथ मिलजुल जाने की संभावना कम हो जाएगी। जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, ये न तो अतिमानसिक शक्तियाँ हैं, न हो ही सकती हैं; यह तो तैयारी का एक कार्य है जो एक भावी योग-सिद्धि के लिए सारी चीजों को बस तैयार कर रहा है। (18. 1. 1932)

श्रीमाँ को आत्म-समर्पण करने की आवश्यकता

अगर तुम आत्म-समर्पण न करो तो फिर उनकी ओर खुले रहने का कोई विशेष आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। आत्मदान या समर्पण की मांग उन लोगों से की जाती है जो इस योग का अभ्यास करते हैं, क्योंकि सत्ता की ओर से ऐसा क्रम-वर्द्धमान समर्पण हुए बिना किसी और लक्ष्य के समीप पहुँचना एकदम असंभव है। उनकी ओर खुले रहने का अर्थ है, अपने अंदर कार्य करने के लिए उनकी शक्ति का आवाहन करना, और अगर तुम उनको समर्पण नहीं करते तो इसका तात्पर्य हो जाता है अपने अंदर उनकी शक्ति को एकदम कार्य न करने देना अथवा केवल इस शर्त्त पर कार्य करने देना कि वह उसी तरह कार्य करेंगी जो कि दिव्य सत्य का पथ है। इस तरह का सुझाव साधारणतया किसी अहंकार पूर्ण अंश से आता है जो भागवत कृपा के उद्देश्य के लिए जीवन यापन करने के लिए इच्छुक नहीं होता,वह इच्छुक होता है, जो कुछ वह ले सके वह सब भगवान से ले लेने के लिए, भगवान को स्वयं अपने-आपको दे देने के लिए नहीं। इसके विपरीत अंतरात्मा (हमारा सच्चा स्वरूप) भगवान की ओर मुड़ जाता है और आत्म-समर्पण करने के लिए वह केवल इच्छुक ही नहीं होता बल्कि उत्सुक होता है और उससे उसे प्रसन्नता होती है ।

इस योग में यह माना जाता है कि प्रत्येक आदमी हर तरह की मानसिक आदर्शवादी संस्कृति से परे चला जाएगा। भावनाएँ और आदर्श मन से संबंध रखते हैं और वे केवल अर्द्ध-सत्य हैं; मन भी बहुत बार,एक आदर्श रख लेने से ही संतुष्ट रहता है, आदर्श बनाने के सुख में डूबा रहता है, जब कि प्राण बराबर ज्यों का त्यों, अरूपांतरित अवस्था में बना रहता है अथवा केवल थोड़ा सा और अधिकांश में ऊपर से देखने में ही परिवर्तित होता है। अध्यात्म का साधक उपलब्धि की चेष्टा से विरत होकर केवल आदर्श बनाने की ओर नहीं मुड़ जाता; आदर्श बनाना नहीं, बल्कि दिव्य सत्य को उपलब्ध करना उसका बराबर ही लक्ष्य होता है, चाहे जीवन से परे जाकर हो या जीवन में ही रहकर हो। अंतिम अवस्था में यह आवश्यक है कि मन और प्राण

को रूपांतरित किया जाए और यह रुपांतर भगवती शक्ति, श्रीमाँ के कार्य के प्रति आत्म-समर्पण किए बिना नहीं हो सकता ।

निराकार की खोज करना उन लोगों का पथ है जो जीवन से अलग होना चाहते हैं, पर साधारणतया वे चेष्टा करते हैं अपने निजी प्रयास के बल पर, वे किसी श्रेष्ठतर शक्ति की ओर अपने-आपको खोलकर या आत्म-समर्पण के पथ से नहीं चलते; क्योंकि निराकार ऐसी चीज नहीं है जो पथ दिखाती है या सहायता करती है बल्कि ऐसी चीज है जो प्राप्त की जाती है और यह प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रकृति के पथ की ओर क्षमता के अनुसार उसे प्राप्त करने के लिए छोड़ देती है। दूसरी ओर, श्रीमाँ की ओर अपने को खोलकर और उन्हें आत्म-समर्पण करके मनुष्य निराकार को भी प्राप्त कर सकता है और सत्य के दूसरे प्रत्येक स्वरुप को भी प्राप्त कर सकता है।

अवश्य ही आत्म-समर्पण क्रमोन्नतिशील होना चाहिए। कोई भी आदमी आरंभ से ही पूर्ण आत्म-समर्पण नहीं कर सकता, इसलिए यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है कि जब मनुष्य अपने भीतर ताकता है तब वह वहां उसका अभाव पाता है, पर यह कोई कारण नहीं है कि आत्मसमर्पण का सिद्धांत ही न स्वीकार किया जाए और धीर-स्थिर रूप से एक-एक स्तर, एक-एक क्षेत्र में, क्रमशः प्रकृति के सभी अंगों में उसे प्रयुक्त करते हुए, उसे व्यवहार में सिद्ध न किया जाए।

योग की प्रक्रिया

श्रीमाँ की शक्ति की क्रिया के द्वारा, जिसे तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति और समर्पण की सहायता प्राप्त होगी, सब कुछ सिद्ध करना होगा । (30-10-1934)

श्रीमाँ को आत्म-समर्पण

तब आवश्यकता है आत्म-समर्पण के संकल्प की। आत्म-समर्पण श्रीमाँ के प्रति ही होना चाहिए। शक्ति के प्रति भी नहीं, बल्कि स्वयं श्रीमाँ के प्रति होना चाहिए। (4-10-1935)

साधना में असफलता

अगर बौद्धिक ज्ञान या मानसिक भावनाओं या किसी प्राणिक वासना के कारण चैत्य-नवजन्म को अस्वीकार किया जाए, श्रीमाँ से सद्यः-उत्पन्न बच्चा बनना अस्वीकार किया जाए, तो फिर साधना में असफलता ही प्राप्त होगी।

आत्म-समर्पण करने का यथार्थ भाव

साधक से जो प्रयास करने की आशा की जाती है, वह है अभीप्सा, त्याग और आत्म-समर्पण। अगर ये तीनों चीजें की जाएँ तो फिर बाकी चीजें श्रीमाँ की कृपा से और तुम्हारे अंदर उनकी शक्ति की क्रिया के कारण अपने-आप ही आएँगी । परंतु इन तीनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है आत्म-समर्पण और उसका प्रथम आवश्यक स्वरूप है कठिनाई के समय विश्वास और भरोसा तथा धैर्य रखना। यह कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते हैं जब कि अभीप्सा वहाँ हो, उसके विपरीत, जब कि

तामसिकता के दबाव के कारण अभीप्सा नहीं होती तब भी विश्वास और भरोसा और धैर्य विद्यमान रह सकते हैं। यदि अभीप्सा के प्रसुप्त रहने पर विश्वास और धैर्य साथ छोड़ दें तो उसका मतलब यह होता कि साधक एकमात्र अपने निजी प्रयास पर ही निर्भर करता है। उसे अनुभव होता है—"ओह, मेरी अभीप्सा असफल हो गयी, इसलिए अब मेरे लिए कोई आशा नहीं। मेरी अभीप्सा असफल हो रही है, इसलिए भला श्रीमाँ भी क्या कर सकती हैं?" इसके विपरीत, साधक को यह अनुभव होना चाहिए, "कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा फिर से वापस आएगी । इस बीच, मैं जानता हूँ कि जब मैं उन्हें अनुभव नहीं करता हूँ तब भी श्रीमाँ मेरे साथ हैं ; वह मुझे अंधकारपूर्ण समय के भीतर से भी उठा ले जाएँगी।" यही पूर्णतः यथार्थ भाव है जिसे तुम्हें अवश्य बनाए रखना चाहिए। जिन्हें यह भाव होता है उनका अवसाद कुछ भी नहीं कर सकता; अगर अवसाद आता भी है तो उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर वापस लौट जाना पड़ता है । यह चीज तामसिक आत्म-समर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण उसे कहते हैं जब मनुष्य यह कहता है कि, "मैं कुछ भी नहीं करूंगा; श्रीमाँ सब कुछ कर दें । अभीप्सा, त्याग और आत्म-समर्पण भी आवश्यक नहीं हैं । वही यह सब भी मेरे अंदर ला दें।" इन दोनों भावों में बहुत बड़ा अंतर है। एक भाव तो है उस पीछे हटने वाले का जो कुछ भी करना नहीं चाहता और दूसरा है उस साधक का जो अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर कार्य करता है, पर जब वह कुछ समय के लिए अकर्मण्यता में जा गिरता है और चीजें विपरीत हो जाती हैं, तब भी वह सब चीजों के पीछे विद्यमान श्रीमाँ की शक्ति और उपस्थिति में अपने विश्वास द्वारा विरोधी शक्ति को चकमे में डाल देता है और साधना की क्रिया को फिर वापस ले आता है ।

श्रीमाँ के प्रति सच्चा समर्पण

अगर साधना में तुम प्रगति करना चाहते हो तो यह आवश्यक है कि जिस नीति और समर्पण की बात तुम करते हो, उसे सरल, सच्चा और पूर्ण बनाओ। यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि तुम अपनी वासनाओं को अपनी आध्यात्मिक अभीप्सा के साथ मिलाते हो। यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि तुम परिवार, संतान या अन्य किसी चीज या मनुष्य के प्रति अपनी प्राणगत आसक्ति को पोसे रखते हो।

अगर तुम्हें यह योग करना है तो तुम्हें बस एक ही कामना और अभीप्सा ---'आध्यात्मिक सत्य को ग्रहण करने और उसे अपने सभी विचारों, अनुभवों, क्रियाओं और प्रकृति के अंदर अभिव्यक्त करने की कामना और अभीप्सा रखनी चाहिए।' तुम्हें किसी के साथ किसी प्रकार का संबंध बनाने के लिए लालायित नहीं होना चाहिए ।

दूसरों के साथ साधक के संबंध उसके भीतर से, जब वह सत्य-चेतना प्राप्त कर लेता है और ज्योति में निवास करता है,तब उत्पन्न होने चाहिए। वे संबंध उसके भीतर भगवती माता की शक्ति और इच्छा के द्वारा, दिव्य जीवन और दिव्य कर्म के लिए आवश्यक अतिमानसिक सत्य के अनुसार, निश्चित होने चाहिए; वे कभी उसके मन और उसकी प्राणगत वासनाओं के द्वारा निश्चित नहीं होने चाहिए। इस बात को तुम्हें अवश्य याद रखना होगा। तुम्हारा चैत्य पुरूष श्रीमाँ के हाथों में अपने-आपको दे देने की और सत्य के अंदर निवास करने और वर्द्धित होने की क्षमता रखता है; पर तुम्हारा निम्नतर प्राण-पुरूष आसक्तियों और संस्कारों से तथा

कामना की अपवित्र गतिविधि से बराबर भरा रहता है और तुम्हारा बाहरी भौतिक मन अपने अज्ञानपूर्ण विचारों और आदतों को झाड़ फेंकने में तथा सत्य की ओर खुल जाने में असमर्थ रहता है, क्योंकि तुम बराबर ही एक ऐसी चीज और ऐसी गतियों को बनाए रखते थे, जिन्हें रखने देना मंजूर नहीं किया जा सकता था; कारण, दिव्य जीवन में जो कुछ स्थापित करने की आवश्यकता है, उसके ठीक विपरीत ये सब चीजें थीं। एकमात्र श्रीमाँ ही तुम्हें इन सब चीजों से मुक्त कर सकती हैं,अगर तुम सचमुच में ऐसा चाहते हो तो केवल अपने चैत्य पुरूष ही नहीं,बल्कि अपने भौतिक मन और अपनी समस्त प्राणिक प्रकृति में भी इसे चाहो। इस चाह का लक्षण यह होगा कि तुम अपनी व्यक्तिगत धारणाओं, आसक्तियों या कामनाओं को अब और पोसे नहीं रखोगे या उनपर जोर नहीं दोगे,चाहे दूरी जितनी हो और चाहे जो कुछ भी हो, तुम अपने आप को खुला हुआ और श्रीमाँ की शक्ति और उपस्थिति को अपने साथ और अपने अंदर कार्य करते हुए अनुभव करोगे, तुम संतुष्ट, धीर-स्थिर तथा विश्वास से भरपूर बने रहोगे और किसी चीज का अभाव नहीं अनुभव करोगे बल्कि बराबर ही श्रीमाँ की इच्छा की प्रतीक्षा करोगे ।

(श्रीमाँ श्रीअरविन्द के पत्र)

> भागवत कृपा किसी भी रूप आ सकती है, सुख में,दुख में सम्मान में, अपमान में, प्रहार में, दुर्घटना में, यहाँ तक कि मौत में। आवश्यकता है उसके लिए सकारात्मक दृष्टिकोण और आस्थापूर्ण विश्वास की कि हमें जो भी मिला है, वह और कुछ नहीं सिर्फ ईश्वर की कृपा है।

साधनामय जीवन

डॉ. इन्द्रसेन

साधनामय जीवन के सामने सदा ही एक साध्य होता है और वह उसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए यत्नवान होता है। निरुद्देश्य जीवन ही साधनाहीन जीवन है और जहाँ उद्देश्य है,जहाँ यत्न है,जहाँ उत्तरोतर प्राप्ति है,वहाँ जीवन में संतोष, आनन्द और रस होंगे तथा जहाँ उद्देश्य नहीं, यत्नशीलता नहीं, लक्ष्य की उत्तरोत्तर प्राप्ति नहीं, केवल सामान्य खाना-पीना, सोना-जागना, थोड़ी मेहनत-मजदूरी और जीवन-यापन है, वहाँ संतोष, आनन्द और रस के लिए क्या अवकाश होगा?

फिर आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए साध्य प्रकाशरूप तथा आनन्दमय आत्मा और परमात्मा है। इनकी हृदयगत जिज्ञासा अपने आप में ही अत्यन्त संतोषप्रद होती है। पूर्ण आनन्द की हृदय प्रेरित कल्पना ही कितना आनन्द दे देती है। उस पूर्ण आनन्द का स्पर्श तो जीवन के रोम-रोम को आह्लादित कर देने वाली वस्तु होगी। आत्मा, परमात्मा, परमानन्द, प्रेम, अमत्व पूर्णता, शोक-दुख से नितांत निवृति, ये सब पर्याय हैं। ये सब के सब अद्भुत उद्देश्य हैं, सच्चे और उच्च कोटि के। इनकी कल्पना, इनका चिन्तन-मनन, इनके लिए सतत् पुरुषार्थ अद्भुत रूप में आनन्ददायक है। जहाँ गम्भीर भाव का कुछ पुरुषार्थ होता है, वहाँ थोड़ी-थोड़ी उपलब्धि भी अवश्य होती है। तब जीवन में रस स्रावित होने लगता है और वह साधनामय बन जाता है।

साधारण जीवन में लोग धन, पद, यश आदि उद्देश्यों के लिए खूब यत्न करते हैं और प्रत्यक्ष ही वे इसमें रस अनुभव करते हैं,परन्तु ये उद्देश्य मनुष्य को धोखा देते हैं। वे सब के सब नाशवान और परिवर्तनशील हैं तथा दुविधायुक्त या द्विपक्षीय हैं। मनुष्य इन्हें अजर-अमर सा मानकर उनका अनुशीलन करता है और निराश होता है।

साधनाहीन जीवन तो समय काटने वाला जीवन है। उसके लिए समय प्रायः भार-सा अनुभव होता है। उसमें जड़ता बहुत होती है। मोह,भय और चिन्ता अधिक रहते हैं। कुछ सामान्य सी क्रियाओं और चेष्टाओं को वह दोहराता रहता है। उसमें उत्साह, प्रेम, आनन्द, ज्ञान की वृद्धि आदि के लिए मानव चेतनता अथवा जागरुकता ही नहीं होती।

मानव में वैसे सबसे अधिक चेतनता तथा जागरूकता है। कोई भी अन्य प्राणी इतना सजग नहीं। मनुष्य में ही वास्तव में यह सामर्थ्य है कि वह विभिन्न उद्देश्यों को विवेचन पूर्वक देखभाल सकता है। छोटे-बड़े,सत्य-असत्य, नाशवान तथा शाश्वत उद्देश्यों में विवेक कर सकता है तथा स्वेच्छापूर्वक अपने चुने हुए उद्देश्य का अनुशीलन एवं उसकी उपलब्धि साधित कर सकता है। वह सामान्य द्वन्द्वमय मानव जीवन से द्वन्द्वातीत सतत् आनन्द के दिव्य-जीवन को प्राप्त कर सकता है।

ऐसा सजग विकास केवल मानव को प्राप्त है। वैसे यदि हम विस्तीर्ण अर्थ में सारे जगत् को रखें तथा मानव प्रकृति की रचना को निहारें तो हमें यह अद्भुत संस्कार मिलता है कि सत्ता मात्र विकासमय है। जगत् में हम पृथ्वी, सूर्य, तारे-सितारे, नदी-पर्वत, जलवायु आदि अनेक जड़-अचेतन तत्वों को देखते हैं, विशाल वन,

खेत, फल-फूलों के अत्यन्त-विविधतापूर्ण क्षेत्र को पाते हैं और फिर असंख्य कीट-पतंग तथा छोटे-छोटे पशुओं की योनियों को देखते हैं। अन्त में मनुष्य को, जो चिंतनशील है, सृजनशील है, भूत और भविष्य की कल्पना करता है तथा आत्मा,परमात्मा और पूर्ण-ज्ञान और परम आनन्द की जिज्ञासा करता है।

यह सब क्या एक विकास-क्रम का रूप नहीं है? निर्जीव से प्राणमय तथा चेतन, आत्म-सजग तथा पूर्ण ब्रह्मज्ञान, कितना स्पष्ट और सुन्दर है विकास का मार्ग! इसमें मानो कुछ संकेत है ही। फिर तमस, रजस् और सत्व स्पष्ट विकास को जतलाते हैं। तमस् मंदता है, अन्धता है, अचेतनता है। रजस् चेष्टा है, गति है, संघर्ष है,राग-द्वेष है। सत्व समस्वरता है, सन्तुलन है, सुख है, प्रकाश है, सदभाव है। कितना सुन्दर है विकास का यह समस्त मार्ग। सत्व की स्थिति बड़ी ही सुन्दर है, परन्तु है फिर भी आधारभूत में द्वन्द्वमय। आत्मस्थिति मूलगत भाव में एकतत्वमय होती है, अतः तमस्, रजस् और सत्व की द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं से परे है द्वन्द्वातीत आध्यात्मिक स्थिति।

भारतीय जीवन की व्यक्तिगत तथा सामाजिक अवस्था भी विकासात्मक तथ्य पर ही आधारित थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास तथा शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार ध्येय तथा अधिकार-भेद का व्यापक विचार, ये सब के सब जीवन के समष्टि भाव तथा व्यष्टि भाव को अद्भुत रूप में समन्वित करते हैं। इन अवस्थाओं का उद्देश्य केवल यह है कि व्यक्ति तथा समिष्ट उत्तरोत्तर यथासंभव अधिक से अधिक विकास को उपलब्ध कर सके और इस विकास का स्वरूप यही है कि हमारी जागरूकता सदा बढ़ती जाए अथवा हमारी मंदता कम होती जाए।

वस्तुत: भगवान ने सारे जगत को साधनामय भाव दिया है, फिर भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने व्यक्ति और समष्टि को साधनामय कल्पित किया था। ऐसे जगत और ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में रहते-रहते हम कैसे साधनामय न बनें। साधनामयता हमारे स्वभाव में, हमारे संस्कारों में है और यही हमारे जीवन की परिपूर्णता और तृप्ति की माँग भी है। जड़ता में पड़ना किसी तरह भी अभीष्ट नहीं। सचेतनता, सजगता, प्रकाशमयता, समस्वरता, शांति, आनन्द, सशक्तता ही ध्येय हैं और इन्हीं का अनुशीलन हमें सहज भाव से करना चाहिए।

अब हमारी जिज्ञासा यह होगी कि अचेतन से अधिकाधिक सचेतन बनने का यह अभ्यास किया जाए तो कैसे?

उपाय वस्तुतःस्पष्ट और सन्देहमुक्त है। वह यह कि पहले तो हमारे अन्दर इसके लिए उत्कट जिज्ञासा होनी चाहिए। यह जिज्ञासा तथा अभीप्सा, यह चाह तथा लगन कि हम अधिकाधिक सचेतन होते जाएँ। यह चाह और लगन दिन रात और हर क्षण की हो जानी चाहिए, सहज और स्वाभाविक हो जानी चाहिए। स्वप्न में भी यह भाव प्राप्त हो जाना चाहिए। इसके लिए सतत् अभ्यास करना होगा। चाह और लगन सच्ची, गम्भीर और व्यापक हो जाने पर शेष कुछ प्रश्न रहता ही नहीं। क्या पूजा करनी चाहिए, क्या और कैसे ध्यान करना चाहिए अथवा ज्ञान, कर्म और भक्ति की किन प्रक्रियाओं का अनुशीलन करना चाहिए, ये सब कुछ भी प्रश्न नहीं रहते। मानव की सच्ची लगन के उत्तर में हृदय-निहित भगवान तथा आत्मा स्वयं साधक का पथ-प्रदर्शन करने लगते हैं और वह अपनी उपयुक्त साधना का मार्ग अपने आप स्पष्ट देखने लगता है। प्यासा पानी खोज

निकालता है, उसे पानी मिलता ही है; उसकी प्यास ही उसे वह एकाग्रता प्रदान कर देती है कि वह पानी की खोज में सफल हो जाता है।

व्यक्ति की लगन उसके लिए अनुकूल वातावरण खोज निकालती है,पथ ढूँढ देती है, पठन-पाठन की दिशा दिखा देती है, उसके हृदय में भक्ति-भाव प्रेरित कर देती है उसे सेवा और समर्पण का क्षेत्र सुझा देती है। श्रीअरविन्द की परिभाषा में इसे हम 'अभीप्सा का विधान' कहेंगे। यह विधान साधक के लिए प्रथम वस्तु है तथा उसके लिए सफलता की अचूक कुंजी है। यह होने पर कभी कोई साधक असफल नहीं होता। जहाँ जितनी अभीप्सा में कमी होती है, वहाँ उतनी ही उसकी असफलता रहती है।

कितना सुन्दर है यह तथ्य! अपने हृदय की चाह बढ़ाना ही सारा काम है। बाकी सब अपने-आप होता जाएगा।

हमारी अभीप्सा होनी चाहिए चेतना के विकास के लिए, इसके लिए कि हम अधिकाधिक सचेतन हो जाएँ। हमारी सामान्य चेतना स्वार्थों द्वारा अत्यन्त सीमित और संकीर्ण बन जाती है, उसमें महानता और विशालता नहीं होती। जो चेतना जितनी संकीर्ण होगी, उतनी ही उसमें चिंतनशीलता होगी। चेतना के विकास का अर्थ है कि उसे विशाल बनाया जाए उसे सर्वहित के अनुशीलन का अभ्यास कराया जाए, हम अपना काम करते हुए भी अनुभव करें कि यह सर्वहित का ही मन्त्र है। इस प्रकार सर्वहित अधिकाधिक हमारे मन-प्राण में बसने लगे तथा चेतना को उत्तरोत्तर गहरा बनाता जाए। साधारणतया हमारी चेतना वस्तुओं को ऊपर-ऊपर से देखती है तथा हम तात्कालिक लाभ को ही अनुभव करते हैं। इसके स्थान पर उसे अभ्यास यह कराया जाए कि वह वस्तुओं को उनके आन्तरिक तथा स्थायी भाव में देखे,किसी व्यक्ति को उसके तात्कालिक क्रोध के रूप में ही न देखे, बल्कि उसे उसके समग्र स्वभाव तथा शान्त आत्मा के रूप में देखे। साथ ही,हमारी चेतना में महानता आनी चाहिए, वह वस्तुओं तथा व्यक्तियों को सर्वोपरि सत्ता, भगवान की दृष्टि से देख सके। पिता को अपने सारे बच्चे प्रिय होते हैं, बच्चों में आपस में चाहे जितना ही राग-द्वेष क्यों न हो। भगवद् भाव में वस्तुओं को देखने के अभ्यास से व्यक्ति में अद्भुत महानता आती है। महानता है ही केवल उस दृष्टि में।

साधनामय जीवन का प्रथम रहस्य है–अभीप्सा, यह साधना का सार है। अभीप्सा के बिना साधना, साधना ही नहीं। वह फलप्रद नहीं होती। साधनामय जीवन का दूसरा आनन्ददायक रहस्य है कि जीवन का प्रत्येक कर्म साधनामय बन सकता है। खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, मिलना-जुलना सब के सब पूजा-अर्चना तथा ध्यान का रूप बन सकते हैं। वह कैसे? वह इस तरह कि वे सब के सब अधिकाधिक सजगता को बढ़ाने वाले बनें। हम जो कुछ भी करें, खूब सजगता से करें,उसे अच्छे से अच्छे रूप में करें, विशाल, सर्वहित और गम्भीर स्थायी तत्व की दृष्टि से करें, पूर्णत्व के भाव को लेकर करें।

ऐसा करने से हमारी चेतना सतत् भाव में अन्तर्मुखता, ऊर्ध्वमुखता और विस्तीर्णता में साक्षात् बढ़ती दिखने लगेगी तथा हमें जीवन में वृद्धि और लाभ की आन्तरिक अनुभूति होने लगेगी।

कितना सुन्दर और सरल है साधना का यह क्रम! मनुष्य जो भी करे वह सजगता से करे,प्रेम से करे, आनन्द से करे, सर्वहित में करे,भगवद्-रूप में करे, विशाल और उदात्त भाव से करे। इस प्रकार उसके सारे कर्म आत्मोपलब्धि और भगवद्-प्राप्ति के साधन बन जाएँगे। घंटे-दो घंटे के ध्यान, स्वाध्याय,पूजा-पाठ में वस्तुतः वह बल नहीं, जो इस प्रकार किए गये सामान्य कर्मों में है, क्योंकि इस प्रकार तो साधना चौबीसों घंटे की वस्तु बन जाती है।

ध्यान, स्वाध्याय, पूजा-पाठ, विशेष एकाग्रता के विकासात्मक कर्म होने के कारण बराबर उपयोगी हैं, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि वे उपयोगी तभी तथा उतनी ही मात्रा में होते हैं, जितने वे सजगतापूर्वक, प्रेम तथा आनन्दपूर्वक किये जाते हैं। यांत्रिक रूप में किया हुआ जप चेतना के विकास का कारण कैसे बन सकता है?

अन्त में हम साधनामय जीवन के सार को इस प्रकार समझ सकते हैं कि विकासमय जगत में निवास करते हुए मानव का स्वरूप साधना का ही है और उसे सजगतापूर्वक अपनी चेतना का स्तर अधिकाधिक बढ़ाते रहना चाहिए। सर्वचेतन भगवान उसका लक्ष्य है, हम उनका वह स्मरण करें, उनकी अभीप्सा जगाएँ और सतत् भाव में अचेतनता का त्याग करते हुए सचेतनता को परिवर्द्धित करें। अपनी चेतना में विशालता लाएँ, गम्भीरता जुटाएँ तथा महानता पैदा करें। वह जीवन में कृतकार्य होगा इस प्रकार मानव आत्मा तथा परमात्मा को उपलब्ध करेगा।

पूर्वप्रकाशित-कर्मधारा 1994

> “तुम्हें अपना काम अपनी अधिक-से-अधिक योग्यता के साथ चुपचाप करते जाना चाहिये। केवल काम के बारे में सोचो, इधर-उधर की राजनीति के बारे में नहीं, जिसका कोई महत्व नहीं है।”

तीन गांठें

संकलन

भगवान बुद्ध अक्सर अपने शिष्यों को शिक्षा प्रदान किया करते थे। एक दिन प्रातः काल बहुत से भिक्षुक उनका प्रवचन सुनने के लिए बैठे थे। बुद्ध यथा समय सभा में पहुंचे,पर आज शिष्य उन्हें देखकर चकित थे क्योंकि आज पहली बार वे अपने हाथ में कुछ लेकर आए थे।

करीब आने पर शिष्यों ने देखा कि उनके हाथ में एक रस्सी थी। बुद्ध ने आसन ग्रहण किया और बिना किसी से कुछ कहे वे रस्सी में गांठें लगाने लगे।

वहाँ उपस्थित सभी लोग यह देख सोच रहे थे कि अब बुद्ध आगे क्या करेंगे! तभी बुद्ध ने सभी से एक प्रश्न किया,मैंने इस रस्सी में तीन गांठें लगा दी हैं,अब मैं आपसे ये जानना चाहता हूँ कि क्या यह वही रस्सी है,जो गाँठें लगाने से पूर्व थी?

एक शिष्य ने उत्तर में कहा,गुरूजी इसका उत्तर देना थोड़ा कठिन है, ये वास्तव में हमारे देखने के तरीके पर निर्भर है। एक दृष्टिकोण से देखें तो रस्सी वही है,इसमें कोई बदलाव नहीं आया है। दूसरी तरह से देखें तो अब इसमें तीन गांठें लगी हुई हैं जो पहले नहीं थीं अतः इसे बदला हुआ कह सकते हैं। पर ये बात भी ध्यान देने वाली है कि बाहर से देखने में भले ही ये बदली हुई प्रतीत हो पर अंदर से तो ये वही है जो पहले थी; इसका बुनियादी स्वरुप अपरिवर्तित है।

सत्य है ! बुद्ध ने कहा, अब मैं इन गांठों को खोल देता हूँ।

यह कहकर बुद्ध रस्सी के दोनों सिरों को एक दूसरे से दूर खींचने लगे। उन्होंने पूछा, तुम्हें क्या लगता है,इस प्रकार इन्हें खींचने से क्या मैं इन गांठों को खोल सकता हूँ ?

नहीं-नहीं, ऐसा करने से तो ये गांठें और भी कस जाएँगी, इनका खुलना और मुश्किल हो जाएगा। एक शिष्य ने शीघ्रता से उत्तर दिया।

बुद्ध ने कहा, ठीक है, अब एक आखिरी प्रश्न, बताओ इन गांठों को खोलने के लिए हमें क्या करना होगा ?

शिष्य बोला, इसके लिए हमें इन गांठों को गौर से देखना होगा, ताकि हम जान सकें कि इन्हें कैसे लगाया गया था, और फिर हम इन्हें खोलने का प्रयास कर सकते हैं।

मैं यही तो सुनना चाहता था। मूल प्रश्न यही है कि जिस समस्या में तुम फँसे हो,वास्तव में उसका कारण क्या है, बिना कारण जाने निवारण असम्भव है। मैं देखता हूँ कि अधिकतर लोग बिना कारण जाने ही निवारण करना चाहते हैं,कोई मुझसे ये नहीं पूछता कि मुझे क्रोध क्यों आता है,लोग पूछते हैं कि मैं अपने क्रोध का अंत कैसे करुँ ? कोई यह प्रश्न नहीं करता कि मेरे अंदर अंहकार का बीज कहाँ से आया, लोग पूछते हैं कि मैं अपना अहंकार कैसे ख़त्म करूँ ?

प्रिय शिष्यों, जिस प्रकार रस्सी में गांठें लग जाने पर भी उसका बुनियादी स्वरुप नहीं बदलता उसी

प्रकार मनुष्य में भी कुछ विकार आ जाने से उसके अंदर से अच्छाई के बीज ख़त्म नहीं होते। जैसे हम रस्सी की गांठें खोल सकते हैं वैसे ही हम मनुष्य की समस्याएं भी हल कर सकते हैं। इस बात को समझो कि जीवन है तो समस्याएं भी होंगी ही, और समस्याएं हैं तो समाधान भी अवश्य होगा,आवश्यकता है कि हम किसी भी समस्या के कारण को अच्छी तरह से जानें,निवारण स्वतः ही प्राप्त हो जाएगा। महात्मा बुद्ध ने अपनी बात पूरी की।

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तब तक नहीं दे सकते जब तक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

श्रीमाँ का वक्तव्य

श्रीमती विमला गुप्ता

मैं जानती हूँ मैं क्या हूँ। दूसरे क्या कहते हैं, क्या सोचते हैं, इससे उस सच्चाई में कोई फर्क नहीं पड़ता। जो मैं जानती हूँ, संसार की स्वीकृति-अस्वीकृति न तो उस वास्तविकता को घटा सकती है,न बढ़ा सकती है। मैं जो कुछ हूँ, हूँ। मैं क्या करती हूँ, यह वास्तव में एक अलग सवाल है और यह सवाल संसार की अपनी मनःस्थितियों एवं हालातों पर निर्भर करता है क्योंकि मुझे उन्हीं के माध्यम से और उन्हीं के द्वारा कार्य करना है। मैं जानती हूँ उस सत्यता की परिपूर्णता को, जिसे अभिव्यक्त करने के लिए मैं कार्य कर रही हूँ लेकिन वह सत्य विश्व-जीवन में कितना अभिव्यक्त हो सकेगा, यह स्वयं विश्व-जीवन के प्रयास और प्रस्तुति पर निर्भर करता है। जो चेतना मैं इस पतनोन्मुख प्रवृत्ति वाले जीवन में उतारने का प्रयत्न कर रही हूँ, विश्व को उसे ग्रहण करने और स्वीकार करने की क्षमता अपनानी चाहिए अन्यथा चाहे मैं कितना ही सर्वोच्च और अवश्यंभावी सत्य यहाँ विकीर्ण करने का यत्न करुँ, वह पूर्णतया अव्यक्त और अनभिज्ञ रह जाएगा। यदि जीवन की वर्तमान मनोवृत्ति उसे पहचानने और स्वीकार करने से इन्कार करती है और निश्चय ही यह सृष्टि रंचमात्र भी उससे लाभान्वित नहीं हो सकेगी।

आप पूछ सकते हैं कि यदि यह चेतना इतनी सर्वोच्च है और यह सत्य सर्वव्यापी है तो क्यों वह स्वयं इस संसार को अपनी स्वीकृति के लिए बाध्य नहीं कर सकता ? क्या वह संसार के अवरोधक भाव को तोड़ नहीं सकता अथवा उसकी अस्वीकृतियों को ग्रहणशीलता में बदलने के लिए बाध्य नहीं कर सकता ? हाँ, सच है, ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि का सृजन इस तरीके से नहीं हुआ है। न तो यह विवशता से आगे बढ़ी है और न इस पद्धति से इसने विकास ही किया है। इस सृष्टि और सृजन का मूल उद्गम स्वतन्त्रता है। यह उसकी चेतना का स्वतंत्र चुनाव है और यह स्वतन्त्रता ही उसके चरित्र का मूल स्वभाव है। यदि संसार इस सर्वोच्च शक्ति से इन्कार करता है, इस श्रेष्ठ उपलब्धि से मुँह मोड़ता है तो वह अपने स्वतंत्र चुनाव के सुखद भाव में ही ऐसा करता है और यदि वह उस सत्य को पहचानता और उसकी उपलब्धि की ओर मुड़ता है तो यह भी उसके स्वतंत्र चुनाव के आनन्द का परिणाम है। यदि इस विकारयुक्त संसार को तुरन्त उस सच्चाई की ओर मुड़ने का आदेश दे दिया जाता और सब कुछ क्षणों में चमत्कार की तरह घटित कर दिया जाता तब इस सृष्टि रचना का कोई प्रयोजन नहीं था। सृष्टि रचना विकास का एक खेल है, एक यात्रा है, एक गति है जो समय और अवकाश के द्वारा कदम-कदम अपने स्तरों पर आगे बढ़ती है। यह ऐसी निरन्तर प्रक्रिया है जो अपने स्रोत से दूर जाती है और पुनः उसी की ओर लौटती है। यही इस विश्व-रचना का सिद्धांत व प्रयोजन है।

सृष्टि की इस रचना में कोई विवशता और बाध्यता नहीं है। इसकी स्वाभाविक गति में किसी आदेश कि मजबूरी नहीं है, क्योंकि ऐसी लादी हुई बाध्यता सृजन की गति और लय को भंग कर देगी। फिर भी एक विवशता है,एक बाध्यता है और वह है, अपनी निजी प्रकृति और स्वभाव का अनवरत दबाव, आन्तरिक अपूर्णता का सतत अहसास और यही वह चीज है जो इस विश्व-जीवन की चेतना को इन तमाम

हेरा-फेरी व परिवर्तनों से होकर अपने मूल उद्गम की ओर ले जाती है।

अब यह कहा जाता है कि भगवान की कृपा सब कुछ कर सकती है और उसे करना चाहिए, तो इस बात का इससे अधिक व कम कोई अर्थ नहीं कि यह कृपा इस वापसी और पहचान को तीव्र अभीप्सा और गति देती है। भगवत-कृपा उन आधारों को चुनती है जो संकल्पशील हैं, सजग हैं और उसका सहयोग करते हैं। वे लोग स्वयं इस कृपा के अंश और भाग बन जाते हैं। जिस 'सत्य ' की स्थापना के लिए मैं कार्य कर रही हूँ, वह पृथ्वी पर अपने को धारण व अभिव्यक्त करेगा क्योंकि अन्ततः पृथ्वी और सृष्टि की यही अनिवार्य नियति है। आप जानते हैं कि वह नियति क्या है ? वह है -दिव्य-जीवन

दिव्य-आगमन

सुखी और शान्त होने का सबसे अच्छा उपाय है- भगवान् के प्रति गहराई में, तीव्रता के साथ सतत् कृतज्ञता का अनुभव करना।

ज्ञान – भजन

विद्यावती जी कोकिल

मेरा ज्ञान भजन बन जाता।
अंतर के आग्रह के सम्मुख,
मेरा चिन्तक चुप हो जाता
मेरे मत्त प्रेम के आगे
सब दर्शन जीवन बन जाता।
सब कुछ आता,सब कुछ जाता
नहीं हृदय में कुछ टिक पाता,
अहं विसर्जित करते-करते
मेरा मन दर्पण बन जाता।
उन आंसू की विकल कथा क्या,
जो चरणों का अर्घ्य बन चुके,
गिला भला क्या उन कष्टों का
जब सब विरह मिलन बन जाता।
पीड़ा में क्या आह निकालूं
और विजय में नाद करूं क्या,
सब दुख-सुख प्रिय की कटाक्ष बन
आत्मा की पुलकन बन जाता।
क्या जीवन की दिशा बताऊँ
एक इशारे पर चलती हूँ
पथ में आये भला-बुरा जो

अंतर का स्पन्दन बन जाता।

क्या स्वधर्म का ध्येय बखानूं

जहाँ स्वार्थ,परमार्थ नहीं है,

पूजा का क्या समय बताऊं

सकल कर्म कीर्तन बन जाता।

किसे रुचिर कह कंठ लगाऊं,

किसे असुन्दर कह बरकाऊं,

इन डूबी-डूबी आंखों में

अब जड़ भी चेतन बन जाता।

भागवत इच्छा के साथ व्यक्ति के एक होने के चार चरण हैं-अभीप्सा, समर्पण, ग्रहणशीलता, सहयोग।

जापान के विषय में श्रीमाँ

नीरदवरण

प्रथम विश्वयुद्ध के समय श्रीमाँ ने जापानी महिलाओं के बीच एक लम्बी वक्तृता दी। उस वक्तृता का विषय था, अपनी सन्तान के प्रति माँ का दायित्व। उसका सारांश इस प्रकार है:

मेरा ख्याल है, जापान की नारियों से बच्चों के बारे में बात करना उनके सबसे प्रिय, सबसे पवित्र विषय पर बात करना होगा। अपनी सन्तानों के प्रति इतना प्रेम और किसी देश में विरल है, अतः बच्चों के प्रसंग में कोई बात वे अत्यन्त मनोयोग के साथ सुनती हैं। बच्चे भविष्य की आशा हैं, इसलिए जापान में नारियों के सर्वाधिक महत्व का कार्य है बच्चों का निर्माण। मातृत्व ही नारी का सर्वश्रेष्ठ व्रत है, उनकी प्रधान भूमिका है, लेकिन मातृत्व क्या है ? क्या पशुओं की तरह बिना जाने-बूझे, मशीन की तरह बच्चें पैदा करते जाना ही मातृत्व है ? सच्चा मातृत्व सत्ता के सचेतन निर्माण से आरम्भ होता है। नए शरीर में बसने के लिए आनेवाली आत्मा के लिए सत्ता को तैयार करना सच्चा मातृत्व है। नारी का सही क्षेत्र आध्यात्मिक है। सचमुच काम तब शुरू होता है जब विचार और संकल्प-शक्ति के द्वारा एक ऐसे चरित्र की कल्पना और उसका निर्माण किया जाता है जो किसी आदर्श को मूर्त रूप दे सके। इसके अनेक दृष्टान्त हैं।

प्रथमतः, नारियों के चारो ओर कला और सौन्दर्यपूर्ण चित्र रहना चाहिए। गर्भवती नारी जब हमेशा सुन्दर चित्र अथवा कलात्मक कृतियाँ देखेगी तो उसका शिशु भी वैसे ही चित्र और मूर्ति की तरह श्री-सम्पन्न होगा। ऐसा दृष्टान्त मैंने देखा है ।

यदि शरीर के क्षेत्र में यह सम्भव है तो मन के क्षेत्र में सम्भावना और भी अधिक है। एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के द्वारा, अपनी कल्पना के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श में सन्तान को गढ़ा जा सकता है। नारीत्व साधारण पाशविकता और उसकी सहज वृत्तियों से ऊपर उठकर वास्तविक मानवता में उत्तीर्ण हो जाता है। यही हमारा सही कर्त्तव्य है। धरती के विकास के वर्तमान मोड़ पर इसका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम इस युग में जगत् के इतिहास में, एक असाधारण मोड़ पर जी रहे हैं। शायद इससे पहले संसार कभी आज की तरह घृणा, नृशंसता और विशृंखलता के अँधेरे काल से नहीं गुजरा। साथ ही, यह भी ठीक

है कि इससे पहले मनुष्यों के हृदय में इतनी प्रबल और इतनी उत्साहपूर्ण आशा भी कभी नहीं जागी। हम न्यूनाधिक सचेतन रूप से, न्याय, सौन्दर्य, सामंजस्यपूर्ण सदभावना और भाईचारे के नये राज्य की प्रतीक्षा कर रहे हैं, तो यह अँधेरा आती हुई ऊषा की सूचना तो नहीं दे रहा?

.. उसकी पगध्वनि सुनाई दे रही है । मन के राज्य का अवसान हो रहा है। अब आत्मा का युग आएगा; मानव के बाद देवता का आविर्भाव होगा।

वे सब, जिन्हें लगता हैं कि उनका हृदय अपने व्यक्तित्व या अपने ही परिवार तक सीमित नहीं है,उनके विचार अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और स्थानीय सम्बन्धों से ही जुड़े नहीं हैं, बल्कि वे उस भगवान के सेवक हैं जो अपने-आप को सभी देशों में, मनुष्य के रूप में प्रकट करते हैं,वही जानते हैं कि उन्हें ऊपर उठना चाहिए और मानवजाति के हित में, इस स्वर्णिम काल में इस नवीन ऊषा के आविर्भाव के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए।

क्या इस महान बहुमुखी अविराम कर्त्तव्य में नारी जाति भाग लेगी? क्या वे पुरूषों द्वारा अवहेलित,उपेक्षित होकर उनकी ही राय मान लेगी कि नारी दुर्बल, असहाय, आलस्यपूर्ण और अकर्मण्य है? गर्व के साथ मैं कहती हूँ कि निकट भविष्य में नारी और पुरूष के बीच यह अन्तर दूर हो जाएगा। अभी से अपना प्रकृत उच्चस्थान प्राप्त करना होगा- हम लोग समाज की आध्यात्मिक शिक्षा दायिनी हैं। कुछ भी और क्यों न हो, इसमें सन्देह नहीं कि हमलोग ही अतिमानव जाति की जन्मदात्री बनेंगी।

परन्तु यह तो केवल कहने की बात नहीं है,ऐसे महानतर दायित्व के कामों के लिए हमें हर तरह से प्रस्तुत होना होगा। पहले चाहिए तीव्र आकांक्षा, दृढ़ संकल्प कि अब हम मनुष्य को जन्म देकर ही सन्तुष्ट नहीं होंगी, वह मनुष्य चाहे कितना ही महान, श्रेष्ठ क्यों न हो। मनुष्य को अतिक्रमण करके देवता की जननी होने की हमारी आकुल अभीप्सा रहेगी।

मनुष्य कितना ही बड़ा क्यों न हो,वह युक्ति और विचारों के वशीभूत होकर चलता है और देव-मानव चलेगा निर्विरोध रूप से बोधि (Intuition) की शक्ति के द्वारा। उसका काम होगा तब दोषरहित अभ्रान्त पथ पर चलना। यही देव-मानव कभी-कभी हमारे बीच जन्म ग्रहण करते हैं। वे अभ्रान्त आलोक का पथ हमारे लिए दिखा गए हैं। अब हमें दो-चार देव-मानव नहीं, समूची एक देवजाति लानी है। और उस जाति की जननी बनना हमारे ऊपर निर्भर करेगा।

मोटे तौर पर यही माँ की वक्तृता थी।

जापान के बच्चों के प्रसंग में माँ कहती हैं- जापान को बच्चों का स्वर्ग कहा जा सकता है। उसके समान सुखी, स्वच्छन्द शिशु-समाज मैंने और किसी देश में नहीं देखा है। कई महीने जापान में बिताने के बाद भी मैंने नहीं देखा कि बड़े लोग अपने बच्चों के ऊपर कभी हाथ उठाते हैं। उनके साथ ऐसा आचरण किया जाता है मानो माँ-बाप जानते हों कि उनके बच्चे भविष्य के गौरव और प्रतिश्रुति हैं। और आश्चर्य की बात यह है कि इतने आदर-यत्न से घिरे रहने पर भी उनके समान सुबोध,आन्तरिकता से पूर्ण और अच्छे बच्चे मुझे और कहीं नहीं दिखे। जब वे बहुत ही छोटे होते हैं और मजे में माँ की पीठ पर बँधे होते हैं तब भी उनकी बड़ी-बड़ी काली आँखें जीवन की ओर गहराई से झाँकती होती हैं। वे जो कुछ देखते हैं उसके बारे में इसी बीच अपना एक अभिमत बना लेते हैं। बच्चों को कदाचित् ही कभी रोते देखोगे। मान लो, उन्हें चोट लगी है, आँखों से आँसू गिर रहे हैं, उनके पिता या उनकी माँ जैसे ही उन्हें धीमे स्वर से कुछ कहते हैं वैसे ही उनका सारा कष्ट दूर हो जाता है। कौन-सी वह मंत्रवाणी होती है जो बच्चे का रोना भुला देती है? खूब छोटी बात - 'क्या तुम समुराई नहीं हो?' यही प्रश्न बच्चे में पूरी ताकत भरने और उसकी सारी दुर्बलता दूर कर देने के लिए पर्याप्त है।

"रास्ता चलते-चलते देखोगे, झिलमिलाते 'किमोनो' पहने सैकड़ों बच्चों का झुंड। अपने 'करूमा' और बाइसिकल के बावजूद, वे थोड़े में ही सन्तुष्ट हैं – हँसते-गाते और स्वच्छन्द दौड़ते खेलते हैं।थोड़ा और बड़ा होने पर उन बच्चों को खेलवाली ट्रेन गाड़ी में देखोगे। विदेशी पोशाकों में, सिर पर स्टुडेन्ट-कैप,पीठ पर बैग, अपने महत्व से गर्वित। वे गर्वित हैं,जो कुछ सीख रहे हैं और जो सीखेंगे उसे लेकर भी। वे लोग अत्यन्त आन्तरिक हैं, पढ़ने-लिखने में उनकी रूचि है। अपने बढ़ते ज्ञान को और बढ़ाने का कोई अवसर नहीं खोते हैं। पुस्तकों के प्रति जापानी युवाओं में वास्तविक आकर्षण होता है। टोकियो का एक बड़ा मार्ग पूरा ही पुस्तक के दुकानदारों के अधिकार में है। साल भर इन दुकानों में छात्र-छात्राओं की भीड़ का जमजमा रहता है। ऐसी बात भी नहीं कि वे सब केवल उपन्यास खोजने आते हैं।

"आम तौर पर वे विदेशी भाषा सीखने के अत्यन्त आग्रही होते हैं। स्वभाव से यद्यपि वे लजालु होते हैं, पर विदेशियों से मिलते ही भाषा सीखने के लिए उनसे मित्रता कर लेते हैं। जिस देश में ऐसा शिशु-समाज है और जिनके प्रति इस तरह आचरण किया जाता है वह देश आज भी प्रगति और सफलता के सोपानों से ऊपर उठता जा रहा है।"

क्या जापान के आदर्श पर ही माँ ने आश्रम में बच्चों का स्वर्ग तैयार किया है?

बच्चों को मारना- पीटना, डाँट-फटकार करना यहाँ निषिद्ध है।

जापान में ही टॉल्सटॉय के बेटे से माँ की मुलाकात हुई। टॉल्सटॉय एक प्रसिद्ध रूसी लेखक और मनीषी थे। टॉल्सटॉय के पुत्र देश-भ्रमण पर निकले थे और सब जगह मानवजाति की एकता का संदेश फैला रहे थे।

माँ कहती हैं,

"मैंने उनसे पूछा, 'आप किस तरह मानवजाति को एक बनाएँगे?'

'क्यों, यह तो अत्यन्त सहज है', वे बोले। 'सभी एक भाषा बोलेंगे, एक तरह की पोशाक पहनेंगे, एक ही तरह जीवन-यापन करेंगे, तभी तो एकता आएगी।'

मैंने कहा, 'तब तो उस जगत् का बड़ा ही बेतुका चेहरा होगा; उस जगत् में नहीं बसना ही श्रेयस्कर होगा।'माँ कहती हैं, "शायद बेचारे ने मेरी बातों का अर्थ ही नहीं समझा।"

.....शेष अगले अंक मे

-श्रीमाँ की जीवनगाथा

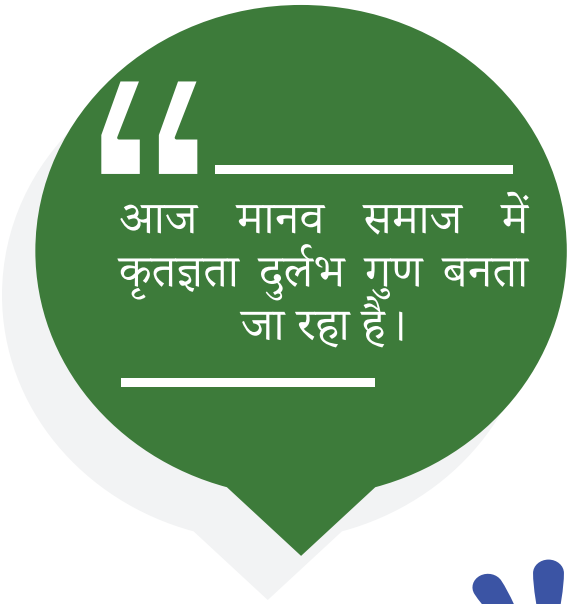

प्राकट्य (Revelation)
वार्ता : मंगेश नाडकर्णी

अनुवाद: विमला गुप्ता

आइये, हम "दिव्य माता" के आह्वान के साथ "सावित्री" का अध्ययन शुरू करें। जो उद्धरण मैं पढ़ने जा रहा हूँ वह श्रीअरविंद रचित महाकाव्य "सावित्री" के पर्व 3, सर्ग 2, पृष्ठ 314 पर है :-

वह माता खड़ी हुई है जन्म, संघर्ष और भाग्य के ऊपरी शिखर पर,
मंद गति से घूमते युग चक्र उसके ही इंगित पर करते हैं प्रत्यावर्तन,
एकमात्र उसी के हाथ कर सकते हैं,परिवर्तित काल रूपी सर्प का मूलाधार
वही है वह रहस्य जिसे "महानिशा" छुपाए है,
प्राण की रासायनिक ऊर्जा शक्ति भी उसी की है,
वह स्वर्णिम सेतु है, अद्भुत अग्नि-प्रभा है,
वही उस "अज्ञेय" का आलोकित हृदय है,
प्रभु के अन्तःकरण में वही नीरवता की शक्ति है,
वह अमोघ बल है, अपरिहार्य "शब्द" है,
हमारे कठिन ऊर्ध्वारोहण का वही चुम्बकीय आकर्षण है
वह "सूर्य" है जिससे हम अपने सूर्य करते हैं प्रज्ज्वलित
अप्रकट लोकों से झाँकता प्रकाश भी वही है
वही अकल्पित प्रदेशों से इंगित करता आह्लाद है
वह सबकी "आधारशक्ति" है जो अभी तक नीचे नहीं उतरी है
समग्र प्रकृति मूक भाव से उसी को पुकारती है
अपने पद-स्पर्श से वह भर देती है, जीवन की दुखती धड़कनों के व्रण
वह मनुष्य की धुँधली आत्मा पर से तोड़ देती है अज्ञान की मुहर
वह पदार्थों के उनींदे हृदय में जलाती है अपनी मधुर प्रभा की लौ
यह समग्र चराचर जीवन बनेगा एक दिन उसका मधुर सदन
सब विषमताएँ तैयारी करती हैं उसमें समन्वित होने के लिए
उसी की ओर आरोहण करता है हमारा ज्ञान, उसी का अन्वेषण करती हैं हमारी भावनाएँ
उसी के जादुई आनन्द में हम वास करेंगे
उसी के आलिंगन में हमारी पीड़ाएँ परिवर्तित होंगी उल्लास में
और उसी के द्वारा हमारा आत्मा एक हो जाएगा 'सर्वात्मा' में।

किसी भी मानदण्ड से देखें, सावित्री एक विलक्षण महाकाव्य है। यह इस शताब्दी की महान् काव्यात्मक उपलब्धियों में से एक है।

रेमण्ड फ्रैंक पाइपर (Raymond Frank Piper) नामक एक अमेरिकन विद्वान ने आंग्ल साहित्य में

इसे 'सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य' की संज्ञा दी है। वे कहते हैं-

"मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि सावित्री महाकाव्य अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। वह अत्यन्त सुसम्बद्ध, सर्वमुखी, सुन्दर एवं सम्पूर्ण वैश्विक कविता है, अब तक लिखे गए काव्यों में बेमिसाल है। यह प्रतीकात्मक रूप से आदिमूल वैश्विक महाशून्य से पृथ्वी के अंधेरों और संघर्षों से होती हुई अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक अस्तित्व के उच्चतर प्रदेशों तक को क्रमानुसार श्रेणीबद्ध करती है और मानव-जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ को, अनुपम-अद्वितीय, ओजस्वी एवं आलंकारिक कविता के द्वारा प्रकाशित करती है।

सावित्री सम्भवतः मनुष्य-मन को परात्पर तक उठाने और विस्तीर्ण करने वाली सर्वाधिक प्रभावपूर्ण काव्यात्मक कलाकृति है।"

श्रीअरविंद की सम्पूर्ण लेखन-कृतियों के बीच "सावित्री" कई प्रकार से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। यही एकमात्र ऐसी रचना है जिस पर उन्होंने लम्बे समय तक अथक श्रम-चिंतन एवं कार्य किया। सावित्री का सबसे पहला पाठ सम्भवतः श्रीअरविंद के बड़ौदा निवास काल का है यानी इस सदी के पहले दशक से शुरू करके उन्होंने इसे अपने जीवन के अन्तिम काल तक पुनः-पुनः लिखा एवं दोहराया है। यह सचमुच एक ध्यान देने योग्य सचाई है कि विरल सृजन-क्षमता के अधिकारी श्रीअरविंद, जो अपने आदेश मात्र से सृजन को उपस्थित करने में समर्थ थे, एक रचना पर इतना समय और ध्यान दें।

उन लोगों ने जो उस समय श्रीअरविंद के साथ थे, हमें बताया कि जब श्रीअरविंद "आर्य" पत्रिका में धारावाहिक रूप से अपने लेख लिख रहे थे तो जब वे लिखने बैठ जाते थे तो कैसे प्रेरक एवं ओजस्वी शब्द उनकी लेखनी से पन्नों पर बिना प्रयास झरने की तरह उमड़ आते थे। उन दिनों वे कितने विभिन्न विषयों पर एक साथ अनवरत लिख रहे थे। दिव्य-जीवन, वेद-रहस्य, गीता-प्रबन्ध, सामाजिक-उत्थान, भारतीय संस्कृति के मूल आधार और योग-समन्वय आदि कई महत्तवपूर्ण ग्रन्थ उन्होंने उन सात वर्षों के दौरान लिखे एवं अपनी मौलिक व्याख्या के साथ प्रस्तुत किये।

तब क्यों श्रीअरविंद ने सावित्री को लिखने एवं सँवारने में आधी शाताब्दी लगा दी, आखिर सावित्री में ऐसी क्या विशेषता है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

इस महान कृति सावित्री का विभिन्न पाठान्तरों में पुनर्लेखन अपने में दिलचस्प कहानी है। यहाँ हम उसके कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। सम्भवतः श्रीअरविंद ने सावित्री का प्रथम पाठ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्ष में लिखा था। उसी समय उन्होंने दो अन्य वर्णनात्मक लम्बी कविताएँ "उर्वशी" तथा "प्रेम एवं मृत्यु" भी लिखी थीं। लेकिन सावित्री की कथा, जो महाभारत के वन पर्व में उल्लेखित है, श्रीअरविंद के लिए एक विशेष आकर्षण रखती थी। ये तीनों ही रचनाएँ-"उर्वशी", "प्रेम एवं मृत्यु" तथा "सावित्री" लगभग एक ही कथा-वस्तु पर आधारित तीन अलग-अलग रचनाएँ हैं। इन तीनों के आख्यान का मुख्य विषय है- प्रेम, मृत्यु और पृथ्वी पर जीवन। "उर्वशी" में पुरुरवा उर्वशी का अनुसरण करता है जब वह सहसा उसे छोड़ वापस स्वर्गलोक चली जाती है। वह उससे पुनः जुड़ जाता है पर इस मिलन के लिए उसे एक कीमत चुकानी पड़ती है। उसे अपना पृथ्वी-जीवन, अपना राज-पाट और अपने स्वजन छोड़ने पड़ते हैं। "प्रेम एवं मृत्यु" में प्रियम्बदा की सर्प-दंश से मृत्यु हो जाती है और उसका प्रेमी रूरू पाताल तक उसकी खोज में जाता है लेकिन इससे पहिले कि वह अपनी प्रियतमा प्रियम्बदा को लेकर पृथ्वी पर लौटे, उसे भी एक कीमत चुकानी पड़ती है। वह यह है कि उसे भी अपने पृथ्वी-जीवन का आधा भाग अर्पित करना पड़ता

है। इन दोनों ही आख्यानों में प्रेम मृत्यु पर विजयी होता है,लेकिन उसकी कीमत है पृथ्वी-जीवन का त्याग।

सावित्री आख्यान में सत्यवान की मृत्यु हो जाती है और सावित्री यमलोक तक उसके पीछे जाती है। वह अत्यन्त धैर्य एवं साहस से अन्धकार और मृत्यु से संघर्ष करती है और अन्ततः उसका प्रेम विजयी होता है। वह सत्यवान के साथ जीवन बिताने हेतु पृथ्वी पर वापस लौट आती है। वह पृथ्वी-जीवन की बलि नहीं देती। इस पौराणिक गाथा के प्रति श्रीअरविंद का यही विशेष आकर्षण था।

श्रीअरविंद ने महाभारत की इस मूल कथा के विषय में हमें बताया है-

"महाभारत में सावित्री-सत्यवान की कथा,दाम्पत्य प्रेम की मृत्यु पर विजय के रूप में वर्णित की गई है। लेकिन यह उपाख्यान भी अन्य अनेक मानवीय कथाओं की तरह वैदिक-युग चक्र का एक प्रतीकात्मक रूपक है। सत्यवान एक ऐसी मानवी आत्मा का प्रतीक है जो अस्तित्व के दिव्य सत्य को अपने में संजोए हुए है,लेकिन जो पृथ्वी लोक में आकर अज्ञान और मृत्यु की पकड़ में आ गई है। सावित्री "दिव्य शब्द","सूर्य" की आत्मजा,"सर्वोच्च सत्य की देवी है" जो "पृथ्वी" पर आई है और उसे बचाने के लिए जन्मी है। "

"अश्वपति" अश्वों का स्वामी, सावित्री का मानवी पिता व तपस्या का स्वामी है,आध्यात्मिक धीरता की वह संचित शक्ति है जो हमें मृत्युलोक से अमरता के लोक तक ले जाने की क्षमता रखती है। द्युमत्सेन,दीप्तिमान पितरों का मालिक और सत्यवान का पिता है। वह दिव्य मन है जो पृथ्वी पर आकर अंधा हो गया है और जिसने अपना ऐश्वर्यपूर्ण स्वर्गीय राज्य खो दिया है तो भी महाभारत में यह कथा केवल एक प्रतीक कथा मात्र नहीं है, क्योंकि इसमें वर्णित चरित्र गुणों से मानवीकरण नहीं हुए है वरन वे उन जीवन्त एवं सचेतन शक्तियों के अवतरण या मूर्त रूप हैं जिनके ठोस सम्पर्क में हम आ सकते हैं और वे शक्तियाँ मानव देह इसलिए धारण करती हैं कि वे मनुष्य की मदद कर सकें और उसे वह रास्ता दिखा सकें जो पार्थिव स्तर से दिव्य चेतना एवं अमर जीवन की ओर ले जाता है।"

श्रीअरविंद ने महाभारत के इस कथानक को चुना और इसे नये जीवन के स्पन्दनों से भर दिया। परिणामस्वरूप सावित्री श्रीअरविंद के सन्देश और अन्तर्दर्शन की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति बन गई। माता जी को बहुत पहिले लिखे एक पत्र में श्रीअरविंद लिखते हैं-

"स्वर्ग हमने जीत लिए हैं (अधिकृत कर लिए हैं) मगर पृथ्वी नहीं कर पाये हैं। लेकिन योग की पूर्णता,जैसा कि वेदों का सिद्धान्त है,पृथ्वी और स्वर्ग को एक समान बनाने और एक करने में हैं।"

सम्भवतः श्रीअरविंद विश्व के दार्शनिकों में से एकमात्र ऐसे दार्शनिक हैं जो मानवता के ऐहिक भविष्य(-terrestrial future) में विश्वास रखते थे,अर्थात वे पृथ्वी पर ही एक परिपूर्ण जीवन के दिव्य द्रष्टा थे। दूसरे अन्य सभी आध्यात्मिक दार्शनिक बिना अपवाद यह सिद्ध करते हैं कि पृथ्वी पर मनुष्य के लिए सम्पूर्ण जीवन असम्भव है। इस जीवन को उपलब्ध करने की आशा केवल मृत्यु-पश्चात के जीवन में ही सम्भव है। श्रीअरविंद का योग इस चमत्कार को सच करने का लक्ष्य प्रस्तुत करता है। पृथ्वी पर ही दिव्य-जीवन के अविर्भाव को सच करने का चमत्कार उनके योग का प्रधान लक्ष्य है। सन 1971 में माताजी ने अपने एक सन्देश में कहा था-

"श्रीअरविंद विश्व को भविष्य के उस सौन्दर्य का बोध कराने के लिए आए,जिसे प्रकट होना है। उन्होंने केवल आशा ही नहीं वरन उस गौरव का विश्वास दिलाया जिसकी ओर विश्व गतिमान है। यह विश्व कोई दुर्भाग्यपूर्ण घटना नहीं है,अपितु यह एक अदभुत सृष्टि है जो अपनी अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर है। विश्व

को भावी सौन्दर्य के विश्वास की जरूरत है और श्रीअरविंद ने उसका आश्वासन हमें दिया है।"

वे "सावित्री" में हमें बार-बार यह आश्वासन देते हैं,बार-बार हम श्रीअरविंद के इन शब्दों को सुनते हैं कि मनुष्य अपने को आगे बढ़ाए और अपने भविष्य के सौन्दर्य को साकार एवं सिद्ध करे।"सावित्री"की इन पंक्तियों में यही प्रबोधन है-"ओ प्रबल शक्ति द्वारा आक्रान्त,भाग्य द्वारा धकेली मानव जाति!

ओ एक अनन्त विश्व के तुच्छ साहसिकों
और बोनी मानवता के कैदी मनुष्यों,
कब तक डोलते रहोगे तुम,मन की चक्राकार पटरियों पर,
अपने क्षुद्र अहंकार एवं तुच्छ विषयों के चारों ओर?

किन्तु तुम नहीं बने थे इस स्थायी लघुता में सिमट जाने के लिए और न ही जन्मान्तरों के निष्फल पुनरागमन हेतु हुआ था तुम्हारा सृजन।

अमरता की सार सत्ता से उद्भूत तुम्हारा निर्माण हुआ था।
एक दृष्टा, एक बलशाली सृजेता तुममें निहित है;
एक "अलौकिक महान" तुम्हारे जीवन पर चिन्तन करता है,
सर्व समर्थ अनन्त शक्तियाँ तुम्हारी, प्रकृति के कोषाणुओं में छुपी हैं,
एक महान "नियति" तुम्हारे निकट प्रतीक्षारत है,
यही यह क्षणभंगुर भौतिक जीवन चाहे
तो "परात्पर" योजना में अपने कार्यों का कर सकता है समावेश।
ओ भू-रूपान्तर के प्रणेताओं, तुम्हें दी गई वह क्षमता
कि तुम आत्मा के दुर्गम प्रदेशों को पार करो
और स्पर्श करो बलदायिनी जाग्रत "माता" का
और इस हाड़-माँस की देह में ही, मिलो उस सर्वशक्तिमान से और अनगिनत देहधारियों के जीवन बनाओ अभिन्न, "एक"।

यह अब स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्यों सावित्री उपाख्यान ने श्रीअरविंद को इतना आकृष्ट किया था। सावित्री के परम शौर्य में उन्होंने बीज रूप में पृथ्वी-जीवन की दिव्यता का सांकेतिक अनुमोदन देखा और पुनः-पुनः उस कथा को हाथों में लिखा। जैसे-जैसे उन्होंने अपने रूपान्तर योग में उन्नति की, उच्चतर चेतना की चोटियों पर महान सिद्धि के दर्शन किये, उन्होंने सावित्री काव्य को चेतना के उसी स्तर से लिखने का प्रयास किया। अपने किसी एक पत्र में उन्होंने इन शब्दों में अपने इस प्रयास का उल्लेख करते हुए लिखा थाः-

"मैंने अपने उत्थान के लिए सावित्री को साधन के रूप में अपनाया। एक विशेष मानसिक धरातल से मैंने इसे लिखना प्रारम्भ किया था। हर बार जब मैं चेतना के और ऊँचे स्तर पर पहुँचता, मैं इसे पुनः उसी स्तर के अनुरूप लिखता रहा। वस्तुतः सावित्री कोई कविता नहीं जो शुरु हुई और समाप्त हो गई, वरन यह मेरी प्रयोग की ऐसी भूमि है, जहाँ अनवरत यह परखा जा सकता है कि अपनी यौगिक चेतना से कोई कितनी उत्कृष्ट कविता लिख सकता है और वह कितनी सृजनात्मक हो सकती है।"

ये शब्द प्रमाणित करते हैं कि "सावित्री" की कितनी उच्च गरिमा है, कितनी श्रेष्ठता एवं मूल्य-परकता है। वस्तुतः यह कृति श्रीअरविंद की अपनी चेतना की गहन गम्भीर प्रतिमूर्ति है। हमें ऊपर उठने के लिए केवल

अपने को "सावित्री" को समर्पण कर देना है और हमारा यह प्रयास हमें श्रीअरविंद की चेतना से जीवन्त सम्पर्क कराने में सफल होगा।

बहुत से लोग आश्चर्य करते हैं कि क्यों श्रीअरविंद ने "आर्य" के पाँच हजार पृष्ठों,जिनमें दिव्य-जीवन,योग-समन्वय, सामाजिक-विकास का मनोविज्ञान एवं गीता-प्रबन्ध जैसे महान ग्रन्थ शामिल है,को लिखने के पश्चात भी सावित्री को लिखा जबकि अपनी इन कृतियों में उन्होंने दिव्य-जीवन का विशद वर्णन किया है,उनके सिद्धान्त, प्रणाली एवं उसके अभ्यास की विधि का इतना खुलासा कर दिया है.व्यक्ति के लिए भी और समष्टि के लिए भी. तब फिर क्यों उन्होंने "सावित्री" को लिखने में इतना श्रम किया व समय लगाया ? विद्वानों ने इस प्रश्न के कई प्रकार से उत्तर दिए हैं और अपने-अपने समाधान प्रस्तुत किए हैं। मैं अपनी सरल बुद्धि से इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दे रहा हूँ-

"पूर्ववर्ती अवतार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भगवद्गीता का साक्षात् दर्शन कराया और उसकी अभीप्सा पूरी की,लेकिन साथ ही उन्होंने अपनी मधुर बाँसुरी बजाकर सम्मोहक धुन से सरल गोपियों की आत्माओं को विमुग्ध एवं विमूर्च्छित कर दिया और फिर अपनी चेतना की अभिन्नता में उन्हें उठाकर वशीभूत कर लिया। गोपियाँ प्रभु की बाँसुरी के मधुर सम्मोहन में डूब गईं और उन्होंने बिना प्रयास अपने को समर्पित एवं न्यौछावर कर दिया। अपने नये अवतार में प्रभु ने "आर्य" के लेखों में नई भगवद्गीता की रचना की।आने वाले युग के नए योग-"अतिमानसिकयोग का उद्घाटन किया और हम सबके प्रति अपनी अनन्त करुणा एवं प्रीति हमारी गोपी रूप आत्माओं के लिए कुछ और अधिक देने की आवश्यकता का अनुभव किया अतः "सावित्री" के रूप में आनन्दमय आत्म-संगीत हमको प्रदान किया। हमें पूर्ववर्ती गोपियों के समान सावित्री के माधुर्य में, उसकी लय-ताल एवं मान्त्रिक प्रभाव में अपने को सौंप देना है और निश्चय ही हम चेतना के उच्च से उच्चतर धरातल तक अपने को उठा हुआ पाएँगे। सावित्री श्रीअरविंद की असीम कृपा है।यह नये युग का मंत्र है जिसे श्रीअरविंद और श्रीमाँ पृथ्वी पर लाए हैं।

शेष अगले अंक में....

सावित्रि एक संक्षिप्त परिचय

आश्रम-गतिविधियाँ

रविवार सत्संग

विश्व में व्याप्त महामारी कोरोना के कारण आश्रम की व्यावहारिक गतिविधियाँ काफी कम हो गईं। धीरे-धीरे मन-मस्तिष्क में परिस्थिति के अनुसार समय का सद्-उपयोग तथा आश्रम में निर्धारित विकासोन्मुख क्रियाओं का (अनिवार्य सावधानियों तथा सरकारी निर्देशों का पालन करते हुए) कार्यान्वयन किया गया। उसके अन्तर्गत रविवार को सत्संग में होने वाली वार्ता अब ऑन लाइन उपलब्ध कराऐ जाने की व्यवस्था की गई।

श्रीमाँ का प्रतीक चिह्न

इन विषम परिस्थितियों में जहाँ सामुहिक रूप से एकत्रित होना अनुचित होता, आश्रमवासियों की दैनिक गतिविधियाँ लगभग बंद रहीं। इस समय का प्रयोग यथासम्भव रूप से आश्रम के सदस्यों द्वारा आन्तरिक विकास के प्रति सजगता बरतते हुए किया गया। आश्रम में रहने वाले युवा वर्ग को श्रीमाँ की शिक्षाओं से परिचित कराते हुए उनके प्रतीक चिह्न का अर्थ समझाया गया।

मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु श्रीमाँ द्वारा उनके प्रतीक में चिह्नित बाहर गुणों, उनके रूप-रंग की व्याख्या करते हुए उन्हें इनका महत्त्व समझाया गया तथा उन्हें जीवन में इन गुणों को विकसित करते हुए उच्चतर जीवन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी गई।

आश्रम में हर्ब्स सेन्टर की स्थापना

दिनांक 2/6/2020 को आश्रम में तारा दीदी द्वारा हर्ब्स सेन्टर (जड़ी-बूटी-केन्द्र) की स्थापना की गई। हर्ब्स सेन्टर में उपलब्ध सभी जड़ी बूटियों का उत्पादन आश्रम में ही किया जाता है।

विज्ञान-कार्यशाला

श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा द्वारा दि. 18 जून से 27 जून 2020 तक एक कार्यशाला का आयोजन किया गया-'an online Integral Education and Hands on science work shop'

यह कार्यशाला मुख्यतः ग्रामीण तथा आदिवासी क्षेत्रों के विद्यालयों के लिए थी। कार्यशाला में 16 विद्यालयों के लगभग 45 प्रतिभागी शामिल हुए जिनमें अध्यापकों के साथ-साथ कुछ प्रधानाचार्य निर्देशक तथा संयोजक भी थे।

कार्यशाला का उद्घाटन माननीया तारा जौहर (अध्यक्षा-श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा) ने किया। कार्यशाला में श्रीअरविन्द द्वारा प्रतिपादित सर्वांगीण शिक्षा के सिद्धांत (Theory of Integral Education) की सरल व्यावहारिक तथा बोधगम्य व्याख्या-डॉ.अपर्णा रॉय द्वारा प्रस्तुत की गई।

इस विज्ञान कार्यशाला के तहत भौतिक विज्ञान,रासायन शास्त्र,जीव-विज्ञान तथा सौर विज्ञान(physics chemistry, biology and solar system)विषयक सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक प्रस्तुति डॉ.प्रकाश वर्मा, श्रीमती महक हीरा, श्री भार्गव एवं श्री बरेन राउल द्वारा की गई। उल्लेखनीय है कि इन विद्यालयों के शिक्षक अपने शिक्षार्थियों के साथ प्रयोगशाला में इन प्रयोगों को सुचारू रूप से कर सकें, तदर्थ श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा द्वारा प्रत्येक विद्यालय को 'वैज्ञानिक-प्रयोग-साम्रगी का अनुदान भी किया गया।'

निष्कर्षतः यह कार्यशाला प्रतिभागियों तथा आयोजकों की दृष्टि में सन्तोषप्रद रही, प्रतिभागियों द्वारा ऐसी कार्यशालाओं के और अधिक आयोजन की माँग की गई।

Hi
Cutie

SYSTEM LAB
SCIENCE LAB

तारा दीदी का जन्मदिन- 5 जुलाई